विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक १० अक्तूबर २००१ मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
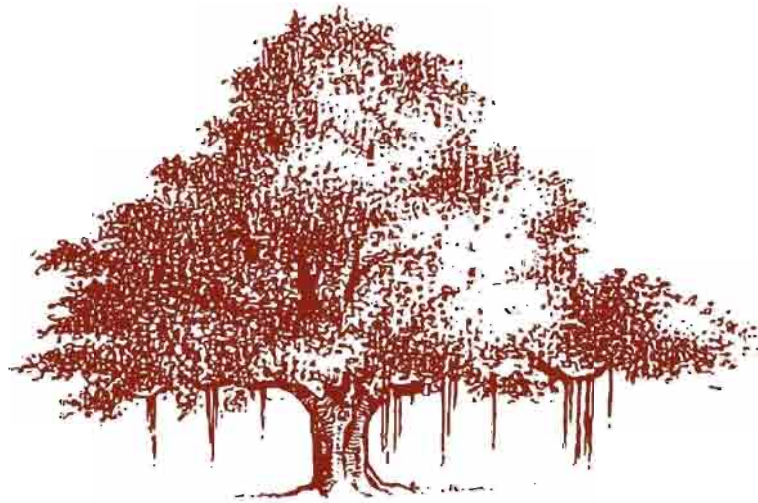
जैसे वृक्ष धरती से लवण और जल,
वातावरण से वायु, और सूर्य से ऊर्जा
ग्रहण करता हुआ अपने शरीर को स्वस्थ
रखता है, वैसे ही हे प्रभो! विश्व का
प्रत्येक प्राणी प्रकृति से आवश्यक तत्त्वों
का संचय करता हुआ अपने-आपको
स्वस्थ रखे!

- श्रुति -

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक १०

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. ७००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ३९ अक्तूबर २००१ अंक १०

नीति-शतकम्

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः ।।४४।।

अन्वयः – शाणोल्लीढः मणिः, हेतिदलितः समरविजयी, मदक्षीणः नागः, शरदि श्यानपुलिनाः सरितः, कलाशेषः चन्द्रः, सुरतमृदिता बालवनिता, अर्थिषु गलितविभवाः नराः च तनिम्ना शोभन्ते ।

भावार्थ – दान द्वारा धन को क्षीण करने से ही वह शोभित होता है, यह स्पष्ट करते हुए कवि कहता है – सान चढ़ाने के यंत्र पर खरादा गया रत्न, क्षत-विक्षत युद्ध में विजयी हुआ वीर, मद बहने से दुर्बल हुआ हाथी, शरद् ऋतु में कुछ कुछ सूख चुके रेतीले तटोंवाली सरिता, एक ही कला अर्थात् द्वितीया का चन्द्रमा, मर्दित बालवनिता, याचकों को दिये हुए दान से घटी हुई सम्पत्तिवाले लोग – ये सभी अपनी क्षीणता से ही शोभा पाते हैं।

परिक्षीणः कश्चित् स्पृहयति यवानां प्रसृतये
स पश्चात् सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ।
अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयाऽर्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ।।४५।।

अन्वयः – कश्चित् परिक्षीणः यवानां प्रसृतये स्पृहयति, पश्चात् सः सम्पूर्णः धरित्रीं तृणसमां कलयति; अतः च अर्थेषु अनेकान्त्यात् गुरुलघुतया धनिनाम् अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति ।

भावार्थ – अपनी जागतिक अवस्था के अनुसार किस प्रकार मनुष्य के लिए वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है, यही बताते हुए कवि कहता है – कोई निर्धन अंजलि भर जौ की लालसा करता है और वही बाद में समृद्ध होकर पृथ्वी तक को तृण के समान समझता है, अतः धन के विषय में धनवान की अनिश्चित अवस्था वस्तुओं को भी बड़ा या छोटा बनाती है।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(सोहनी-कहरवा)

भज मन रामकृष्ण के चरणा,
मोह-भ्रान्तिमय भवसागर से, जो तू चाहे तरना ।।

करुणागंगा प्रभु चरणों से,
उतरी वीरेश्वर मस्तक पे,
बहती जग को प्लावित करती,
शान्ति-सुखद तम हरना ।।

परम पुनीत पतित पावन पद,
प्रतिपल ध्याओ त्याग मोह-मद,
पाकर शरण उन्हीं में अब तो,
यम से भी ना डरना ।।

आया है तू इस विदेश में, घूम रहा है दीन वेश में,
भटक न जाना पथ अनजाना, संग उन्हें ही करना ।।

– २ –

(तोड़ी-कहरवा)

रामकृष्ण पद पंकज सुन्दर,
भज रे, भज रे, मम मन मधुकर ।।

निशाकुसुम विषपूरित माया,
जनम जनम से रहा लुभाया ।
अब तो इसे त्याग दे मूरख,
उदयमान प्राची में दिनकर ।।

बिसरा दुखमय नश्वर जग को,
लगा चित्त उसमें अमृत जो,
पाने को चिर शाश्वत जीवन,
सुधापान कर शीतल सुखकर ।।

– *विदेह*

व्यक्तित्व का विकास (६)

स्वामी विवेकानन्द

(व्यक्तित्व का विकास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है और आज के युग में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। मैसूर के रामकृष्ण आश्रम से स्वामीजी के व्यक्तित्व-निर्माण विषयक उक्तियो का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। यहाँ पर हम उसी पुस्तिका की भूमिका तथा अनुवाद का क्रमशः प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

साहसी बनो

बहुत दिनों पहले मैंने समाचार-पत्रों में पढ़ा था कि प्रशान्त महासागर के एक द्वीपपुंज के निकट कुछ जहाज* तूफान में फँस गये थे। 'सचित्र लन्दन समाचार' पत्रिका में इस घटना का एक चित्र भी आया था। तूफान में केवल एक ब्रिटिश जहाज को छोड़ अन्य सभी भग्न होकर डूब गये। वह ब्रिटिश जहाज तूफान पार कर चला आया। चित्र में दिखाया है कि जहाज डूबे जा रहे हैं, उनके डूबते हुये यात्री डेक पर खड़े होकर तूफान से बच जानेवाले यात्रियों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। हमें इसी प्रकार वीर तथा उदार होना चाहिए।[७०]

जब भी अँधेरे का आक्रमण हो, अपनी आत्मा पर बल दो और जो कुछ प्रतिकूल है, नष्ट हो जायेगा; क्योंकि आखिर यह सब स्वप्न ही तो है। आपत्तियाँ पर्वत जैसी भले ही हों, सब कुछ भयावह और अन्धकारमय भले ही दिखे, पर जान लो, यह सब माया है। डरो मत, यह भाग जायेगी। कुचलो और यह लुप्त हो जायेगी। ठुकराओ और यह मर जायेगी। डरो मत, यह न सोचो कि कितनी बार असफलता मिलेगी। चिन्ता न करो। काल अनन्त है। आगे बढ़ो, बारम्बार अपनी आत्मा पर बल दो। प्रकाश जरूर ही आयेगा। तुम चाहे किसी से भी प्रार्थना क्यों न करो, पर कौन तुम्हारी सहायता करेगा? जिसने स्वयं मृत्यु पर विजय नहीं पायी, उससे तुम किस सहायता की आशा करते हो? स्वयं ही अपना उद्धार करो। मित्र, दूसरा कोई तुम्हें मदद नहीं कर सकता, क्योंकि तुम स्वयं ही अपने सबसे बड़े शत्रु और स्वयं ही अपने सबसे बड़े हितैषी हो। तो फिर आत्मा का आश्रय लो। उठ खड़े हो जाओ; डरो मत।[७१]

वीरता के साथ आगे बढ़ो। एक दिन या एक साल में सिद्धि की आशा न रखो। उच्चतम आदर्श पर दृढ़ रहो। स्थिर रहो। स्वार्थपरता व ईर्ष्या से बचो। आज्ञापालक बनो। सत्य, मानवता और अपने देश के प्रति चिर काल तक निष्ठावान बने रहो, और तुम संसार को हिला दोगे। याद रखो – व्यक्ति और उसका जीवन ही शक्ति का स्रोत है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। ... दास लोग सदा ही ईर्ष्या के रोग से ग्रसित रहते हैं। हमारे देश का भी यही रोग है। इससे हमेशा बचो। सब आशीर्वाद और सर्वसिद्धि तुम्हारी हो।[७२]

* प्रशान्त महासागर के समोआ द्वीपपुंज के पास ब्रिटिश जहाज 'कैलिओपी' और अमेरिका के कुछ युद्धक जहाज।

वीरता

मित्रो! पहले मनुष्य बनो, तब देखोगे कि बाकी सभी चीजें स्वयं ही तुम्हारा अनुसरण करेंगी। आपस के घृणित द्वेष-भाव को – कुत्ते के सरीखे परस्पर झगड़ना तथा भूँकना छोड़कर भले उद्देश्य, सदुपाय, सत्साहस एवं सच्ची वीरता का अवलम्बन करो। तुमने मनुष्य योनि में जन्म लिया है, तो अपने पीछे कुछ स्थायी चिह्न छोड़ जाओ – **तुलसी आये जगत् में, जगत् हँसे तुम रोय। ऐसी करनी कर चलो, आप हँसे जग रोय।।** अगर ऐसा कर सको, तभी तुम मनुष्य हो, अन्यथा तुम किस काम के हो?[७३]

"दुनिया चाहे जो कहे, मुझे क्या परवाह! मैं तो अपना कर्तव्य-पालन करता चला जाऊँगा" – यही वीरों की बात है। "वह क्या कहता है" या "क्या लिखता है" – यदि ऐसी ही बातों पर कोई रात-दिन ध्यान देता रहे, तो संसार में कोई महान् कार्य नहीं हो सकता। क्या तुमने यह श्लोक सुना है –

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।

नीतिकुशल लोग तुम्हारी निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी तुम पर कृपालु हों या जहाँ खुशी चली जायँ, तुम्हारी मृत्यु आज हो या अगले युग में, परन्तु न्यायपथ से कभी विचलित न होना। कितने ही तूफान पार करने पर मनुष्य शान्ति के राज्य में पहुँचता है। जिसे जितना बड़ा होना है, उसके लिये उतनी ही कठिन परीक्षा रखी गयी है। परीक्षा रूपी कसौटी पर उसका जीवन कसने पर ही जगत् ने उसको महान् कहकर स्वीकार किया है। जो भीरु या कापुरुष होते हैं, वे समुद्र की लहरों को देखकर अपनी नाव को किनारे पर ही रखते हैं। जो महावीर होते हैं, वे क्या किसी बात पर ध्यान देते हैं? "जो कुछ होना है सो हो, मैं अपना ईष्टलाभ करके ही रहूँगा" – यही यथार्थ पुरुषकार है। इस पुरुषकार के हुए बिना कोई भी दैवी सहायता तुम्हारी जड़ता को दूर नहीं कर सकती।[७४]

इस जीवन में जो सर्वदा हताशचित्त रहते हैं, उनसे कोई भी कार्य नहीं हो सकता। वे जन्म-जन्मान्तर में 'हाय, हाय' करते हुए आते हैं और चले जाते हैं। **वीरभोग्या वसुन्धरा** अर्थात् वीर लोग ही वसुन्धरा का भोग करते हैं – यह वचन

नितान्त सत्य है। वीर बनो, सर्वदा कहो, 'अभी:' – मैं निर्भय हूँ। सबको सुनाओ – 'माभै:' – भय न करो। भय ही मृत्यु है, भय ही पाप, भय ही नरक, भय ही अधर्म तथा भय ही व्यभिचार है। संसार में जो भी नकारात्मक या बुरे भाव हैं, वे सब इस भयरूप शैतान से उत्पन्न हुए हैं। इस भय ने ही सूर्य के सूर्यत्व को, वायु के वायुत्व को, यम के यमत्व को अपने अपने स्थान पर रख छोड़ा है, अपनी अपनी सीमा से किसी को बाहर नहीं जाने देता।

यह शरीर धारणकर तुम कितने ही सुख-दु:ख तथा सम्पद-विपद की तरंगों में बहाये जाओ, पर ध्यान रखना ये सभी क्षणस्थायी हैं। इन सबको अपने ध्यान में भी नहीं लाना।[७५]

अपने आप पर विश्वास

आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सर्वाधिक सहायता कर सकता है। यदि यह 'आत्मविश्वास' और भी विस्तृत रूप से प्रचारित होता और कार्यरूप में परिणत हो जाता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितना दु:ख और अशुभ है, उसका अधिकांश लुप्त हो जाता। मानव-जाति के समग्र इतिहास में सभी महान स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है, तो वह यही आत्मविश्वास है। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी। मनुष्य कितनी भी गिरी हुई अवस्था में क्यों न पहुँच जाय, एक ऐसा समय जरूर आता है, जब वह उससे आर्त होकर ऊर्ध्वगामी मोड़ लेता है और स्वयं में विश्वास करना सीखता है। पर हम लोगों को शुरू से ही इसे जान लेना अच्छा है।[७६]

जो व्यक्ति स्वयं से घृणा करने लगा है, उसके पतन का द्वार खुल चुका है; यही बात राष्ट्र के विषय में भी सत्य है।

हमारा पहला कर्तव्य यह है कि हम स्वयं से घृणा न करें; क्योंकि आगे बढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि पहले हम स्वयं में विश्वास रखें और फिर ईश्वर में। जिसे स्वयं में विश्वास नहीं, उसे ईश्वर में कभी विश्वास नहीं हो सकता।[७७]

तुम जो कुछ सोचोगे, वही हो जाओगे; यदि तुम अपने को दुर्बल सोचोगे, तो दुर्बल हो जाओगे; बलवान सोचोगे, तो बलवान हो जाओगे। यदि तुम अपने को अपवित्र सोचोगे, तो अपवित्र हो जाओगे; अपने को शुद्ध सोचोगे, तो शुद्ध हो जाओगे। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम स्वयं को दुर्बल न समझें, प्रत्युत् अपने को बलवान, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ मानें। यह भाव हममें चाहे अब तक प्रकट न हुआ हो, पर हममें है जरूर। हमारे भीतर सम्पूर्ण ज्ञान, सारी शक्तियाँ, पूर्ण पवित्रता और स्वाधीनता के भाव विद्यमान हैं। फिर हम इन्हें अपने जीवन में व्यक्त क्यों नहीं कर सकते? इसलिए कि उन पर हमारा विश्वास नहीं है। यदि हम उन पर विश्वास कर सकें, तो उनका विकास होगा – अवश्य होगा।[७८]

संसार का इतिहास उन थोड़े से व्यक्तियों का इतिहास है, जिनमें आत्मविश्वास था। यह विश्वास अन्त:स्थित देवत्व को ललकार कर प्रकट कर देता है, तब व्यक्ति कुछ भी कर सकता है, वह सर्वसमर्थ हो जाता है। असफलता तभी होती है, जब तुम अपने अन्त:स्थ अमोघ शक्ति को अभिव्यक्त करने की यथेष्ट चेष्टा नहीं करते। जिस क्षण व्यक्ति या राष्ट्र आत्मविश्वास खो देता है, तो उसी क्षण उसकी मृत्यु आ जाती है।[७९]

अनुकरण बुरा है

मेरे मित्रो! एक बात तुमको और समझ लेनी चाहिए और वह यह कि हमें अन्य राष्ट्रों से अवश्य ही बहुत-कुछ सीखना है। जो व्यक्ति कहता है कि मुझे कुछ नहीं सीखना है, समझ लो कि वह मृत्यु की राह पर है। जो राष्ट्र कहता है कि हम सर्वज्ञ हैं, उसका पतन आसन्न है! जब तक जीना है, तब तक सीखना है। पर एक बात अवश्य ध्यान में रख लेने की है कि जो कुछ सीखना है, उसे अपने साँचे में ढाल लेना है। अपने असल तत्त्व को सदा बचाकर फिर बाकी चीजें सीखनी होंगी।[८०]

कोई दूसरे को सीखा नहीं सकता। तुम्हें स्वयं ही सत्य का अनुभव करना है और उसे अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित करना है। सभी को अपने व्यक्तित्व के विकास का, अपने पैरों पर खड़े होने का, अपने विचार स्वयं सोचने का और अपनी आत्मा को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जेलबद्ध सैनिकों की भाँति एक साथ खड़े होने, एक साथ बैठने, एक साथ भोजन करने और एक साथ सिर हिलाने के समान, दूसरों के दिए हुए सिद्धान्तों को निगलने से क्या लाभ! विविधता जीवन का चिह्न है; एकरूपता मृत्यु की निशानी है।[८१]

दूसरे की नकल करना सभ्यता नहीं है; यह एक महान् स्मरणीय पाठ है। अनुकरण, कायरतापूर्ण अनुकरण कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ा सकता। यह तो निश्चित रूप से मनुष्य के अध:पतन का लक्षण है। ... हमें अवश्य दूसरों से अनेक बातें सीखनी होंगी। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है। औरों के पास जो कुछ भी अच्छा पाओ, सीख लो; पर उसे अपने भाव के साँचे में ढालकर लेना होगा। दूसरे की शिक्षा ग्रहण करते समय उसके ऐसे अनुगामी न बनो कि अपनी स्वतंत्रता ही गँवा बैठो। भारतीय जीवन-पद्धति को छोड़ मत देना। पल भर के लिये भी ऐसा न सोचना कि भारतवर्ष के सभी निवासी यदि अमुक जाति की वेशभूषा धारण कर लेते या अमुक जाति के आचार-व्यवहार आदि के अनुगामी बन जाते, तो बड़ा अच्छा होता।[८२]

बीज को भूमि में बो दिया गया और उसके चारों ओर मिट्टी, वायु तथा जल रख दिये गये; तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है, या वायु अथवा जल बन जाता है? नहीं, वह तो वृक्ष ही होता है, वह अपनी वृद्धि के नियम से ही बढ़ता है –

वायु, जल और मिट्टी को अपने में पचाकर, उनको उद्भिज पदार्थ में परिवर्तित करके वह एक वृक्ष हो जाता है। प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात् करके पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार विकास करे।[८३]

नैतिकता क्या है?

सभी नीति-शास्त्रों में एक ही भाव भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट हुआ है और वह है दूसरों का उपकार करना। मनुष्य के प्रति, सारे प्राणियो के प्रति दया ही मानव-जाति के समस्त सत्कर्मों का प्रेरक है और ये सब 'मैं ही विश्व हूँ' और 'यह विश्व अखण्ड है' – इसी सनातन सत्य के विभिन्न भाव मात्र हैं। यदि ऐसा न हो, तो दूसरों का हित करने में भला कौन-सी युक्ति है? मैं क्यो दूसरों का उपकार करूँ? परोपकार करने को मुझे कौन बाध्य करता है? सर्वत्र समदर्शन से उत्पन्न सहानुभूति की जो भावना है, उसी से यह बात सिद्ध होती है। अत्यन्त कठोर अन्त:करण भी कभी कभी दूसरों के प्रति सहानुभूति से भर जाता है। और तो और, जो व्यक्ति 'यह आपात-प्रतीयमान व्यक्तित्व वास्तव में भ्रम मात्र है; इस भ्रमात्मक व्यक्तित्व में आसक्त रहना अत्यन्त गर्हित कार्य है' – ये सब बातें सुनकर भयभीत हो जाता है, वही व्यक्ति तुमसे कहेगा कि सम्पूर्ण आत्मत्याग ही सारी नैतिकता का केन्द्र है।

परन्तु पूर्ण आत्मत्याग क्या है? सम्पूर्ण आत्मत्याग हो जाने पर क्या शेष रहता है? आत्मत्याग का अर्थ है, इस मिथ्या आत्मा या 'व्यक्तित्व' का त्याग, सब प्रकार की स्वार्थ-परता का त्याग। यह अहंकार और ममता पूर्व कुसंस्कारों के फल हैं और जितना ही इस 'व्यक्तित्व' का त्याग होता जाता है, उतनी ही आत्मा अपने नित्य स्वरूप में, अपनी पूर्ण महिमा में अभिव्यक्त होती है। यही वास्तविक आत्मत्याग है और यही समस्त नैतिक शिक्षा का केन्द्र, आधार और सार है। मनुष्य इसे जाने या न जाने, समस्त जगत् धीरे-धीरे इसी दिशा में जा रहा है, अल्पाधिक परिमाण में इसी का अभ्यास कर रहा है। बात केवल इतनी ही है कि अधिकांश लोग इसे अचेतनपूर्वक कर रहे हैं। वे इसे चेतनपूर्वक करें। यह 'मैं और मेरा' प्रकृत आत्मा नहीं, बल्कि मात्र एक सीमाबद्ध भाव है, यह जानकर वे इस मिथ्या व्यक्तित्व को त्याग दें। आज जो मनुष्य रूप में परिचित है, वह उस जगदातीत अनन्त सत्ता की एक झलक मात्र है, उस सर्वस्वरूप अनन्त अग्नि का एक स्फुलिंग मात्र है; वह अनन्त ही उसका सच्चा स्वरूप है।[८४]

परोपकार ही धर्म है; परपीड़न ही पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य है, कमजोरी और कायरता पाप। स्वतंत्रता पुण्य है; पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है, दूसरों से घृणा करना पाप। परमात्मा में तथा स्वयं में विश्वास पुण्य है; सन्देह करना पाप। एकत्व-बोध पुण्य है; अनेकता देखना ही पाप। विभिन्न शास्त्र केवल पुण्य-प्राप्ति के ही साधन बताते हैं।[८५]

किसी भी धर्म अथवा किसी भी आचार्य द्वारा किसी भी भाषा में उपदिष्ट सारे नीतिशास्त्रों का मूल तत्त्व है – 'नि:स्वार्थ बनो', 'मैं' नहीं, वरन् 'तू' – यही भाव सारे नीतिशास्त्र का आधार है और इसका तात्पर्य है, व्यक्तित्व के अभाव की स्वीकृति – यह भाव आना कि तुम मेरे अंग हो और मैं तुम्हारा, तुमको चोट लगने से मुझे चोट लगेगी ओर तुम्हारी सहायता करके मैं अपनी ही सहायता करूँगा; जब तक तुम जीवित हो, मेरी मृत्यु नहीं हो सकती। जब तक इस विश्व में एक कीट भी जीवित रहेगा, मेरी मृत्यु कैसे हो सकती है? क्योकि उस कीट के जीवन में भी तो मेरा जीवन है! साथ ही यह भी सिखाता है कि हम अपने साथ जीनेवाले किसी भी प्राणी की सहायता किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि उसके हित में ही हमारा भी हित समाहित है।[८६]

मनुष्य को नैतिक और पवित्र क्यों होना चाहिये? इसलिए कि इससे उसकी संकल्प-शक्ति बलवती होती है। मनुष्य की भली प्रकृति को अभिव्यक्त करते हुए उसकी संकल्प-शक्ति को सबल बनानेवाली हर चीज नैतिक है और इसके विपरीत करनेवाली हर चीज अनैतिक है।[८७]

आदर्श को पकड़े रहो

आदर्श की उपलब्धि के लिए सच्ची इच्छा – यही पहला बड़ा कदम है। इसके बाद बाकी सब कुछ सहज हो जाता है। संघर्ष एक बड़ा पाठ है। याद रखो, संघर्ष इस जीवन में बड़ा लाभदायक है। हम संघर्ष में से होकर ही अग्रसर होते हैं – यदि स्वर्ग के लिये कोई मार्ग है, तो वह नरक में से होकर जाता है। नरक से होकर स्वर्ग – यही सदा का रास्ता है। जब जीवात्मा परिस्थितियो का सामना करते हुए मृत्यु को प्राप्त होती है, जब मार्ग में इस प्रकार सहस्त्रों बार मृत्यु होने पर भी वह निर्भिकता से संघर्ष करती हुई आगे बढ़ती जाती है, तब वह परम शक्तिशाली बन जाती है और उस आदर्श पर हँसती है, जिसके लिये वह अभी तक संघर्ष कर रही थी, क्योंकि वह जान लेती है कि वह स्वयं उस आदर्श से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। स्वयं मेरी आत्मा ही लक्ष्य है, अन्य और कुछ भी नहीं; क्योंकि ऐसा क्या है, जिसके साथ मेरी आत्मा की तुलना हो सके? सुवर्ण की एक थैली क्या कभी मेरा आदर्श हो सकती है? कदापि नहीं! मेरी आत्मा ही मेरा सर्वोच्च ध्येय है। अपने प्रकृत स्वरूप की अनुभूति ही मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय है।

दुनिया में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो पूर्णतया बुरी हो। यहाँ शैतान और ईश्वर – दोनों के लिये ही स्थान है, अन्यथा शैतान यहाँ होता ही नहीं। जैसे मैंने तुमसे कहा ही है, हम नरक में से होकर ही स्वर्ग की ओर कूच करते हैं। हमारी भूलों

की ही यहाँ उपयोगिता है। बढ़े चलो! यदि तुम सचेत हो कि तुमने कोई गलत कार्य किया है, तो भी पीछे मुड़कर मत देखो। यदि पहले तुमने ये गलतियाँ न की होतीं, तो क्या तुम मानते हो कि आज तुम जैसे हो, वैसे हो पाते? अत: अपनी भूलों को आशीर्वाद दो। वे अदृश्य देवदूतों के समान रही हैं। धन्य हो दु:ख! धन्य हो सुख! चिन्ता न करो कि तुम्हारे मत्थे क्या आता है। आदर्श को पकड़े रहो। बढ़ते चलो! छोटी-छोटी बातों और भूलों पर ध्यान न दो। हमारी इस रणभूमि में भूलों की धूल तो उड़ेगी ही। जो इतने नाजुक हैं कि धूल सहन नहीं कर सकते, उन्हें पंक्ति से बाहर चले जाने दो।[८८]

यदि एक आदर्श पर चलनेवाला व्यक्ति हजार भूलें करता है, तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं है, वह पचास हजार भूलें करेगा। अत: एक आदर्श रखना अच्छा है। इस आदर्श सम्बन्ध में जितना हो सके, सुनना होगा; तब तक सुनना होगा, जब तक कि वह हमारे अन्दर प्रवेश नहीं कर जाता, हमारे मस्तिष्क में पैठ नहीं जाता, जब तक वह हमारे रक्त में घुसकर उसकी एक-एक बूँद में घुल-मिल नहीं जाता, जब तक वह हमारे शरीर के अणु-परमाणु में ओतप्रोत नहीं हो जाता। अत: पहले हमें यह आत्मतत्त्व सुनना होगा। कहा है, "हृदय पूर्ण होने पर मुख बोलने लगता है" और हृदय के इस प्रकार पूर्ण होने पर हाथ भी कार्य करने लगते हैं।

विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति की प्रेरक-शक्ति है। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन-पर-दिन इन्हीं भावों को सुनते रहो, माह-पर-माह इन्हीं का चिन्तन करो। प्रारम्भ में सफलता न भी मिले, पर कोई हानि नहीं; यह असफलता तो बिल्कुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है। इन असफलताओं के बिना जीवन क्या होता? यदि जीवन में इस असफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। उसके न रहने पर जीवन का कवित्व कहाँ रहता? यह असफलता, यह भूल रहने से हर्ज भी क्या? मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, पर वह सदा गाय ही रहती है, मनुष्य कभी नहीं हो जाती। अत: यदि बार-बार असफल हो जाओ, तो भी क्या? कोई हानि नहीं, हजार बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो और यदि हजार बार भी असफल हो जाओ, तो एक बार फिर प्रयत्न करो। सब जीवों में ब्रह्मदर्शन ही मनुष्य का आदर्श है। यदि सब वस्तुओं में उसको देखने में तुम सफल न होओ, तो कम-से-कम एक ऐसे व्यक्ति में, जिसे तुम सर्वाधिक प्रेम करते हो, उसका दर्शन करने का प्रयत्न करो, तदुपरान्त दूसरों में उसका दर्शन करने की चेष्टा करो। इसी प्रकार तुम आगे बढ़ सकते हो। आत्मा के सम्मुख तो अनन्त जीवन पड़ा हुआ है – अध्यवसाय के साथ लगे रहने पर तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी।[८९]

एक विचार लो, उसी को अपना जीवन बनाओ – उसी का चिन्तन करो, उसी का स्वप्न देखो और उसी में जीवन बिताओ। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु तथा शरीर के सर्वाङ्ग उसी विचार से पूर्ण रहें। दूसरे सारे विचार छोड़ दो। यही सिद्ध होने का उपाय है और इसी उपाय से बड़े-बड़े धर्मवीरों की उत्पत्ति हुई है। बाकी लोग बातें करनेवाली मशीनें मात्र हैं।[९०]

आदर्श-पालन में जीवन की व्यावहारिकता है। हम चाहे दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित करें या दैनन्दिन जीवन के कठोर कर्तव्यों का पालन करें, परन्तु हमारे सम्पूर्ण जीवन में आदर्श ही ओतप्रोत रूप से विद्यमान रहता है। इसी आदर्श की किरणें सीधी अथवा वक्र गति से प्रतिबिम्बित तथा परावर्तित होकर मानो हमारे प्रत्येक रंध्र तथा वातायन से होकर जीवन-गृह में प्रवेश करती रहती है और हमें जानकर या अनजाने उसी के प्रकाश में अपना प्रत्येक कार्य करना पड़ता है, प्रत्येक वस्तु को उसी के द्वारा परिवर्तित, परिवर्द्धित या विरूपित देखना पड़ता है। हम अभी जैसे हैं, वैसा आदर्श ने ही बनाया है अथवा भविष्य में जैसे होनेवाले हैं, वैसा आदर्श ही बना देगा। आदर्श की शक्ति ने ही हमें आवृत्त कर रखा है तथा अपने सुखों में या अपने दु:खों में, अपने महान् कार्यों में या अपने निकृष्ट कार्यों में, अपने गुणों में या अपने अवगुणों में, हम उसी शक्ति का अनुभव करते हैं।[९१] ❖ (क्रमशः) ❖

७०. विवेकानन्द साहित्य, ८.५७ ७१. वही, ९.१२८; ७२. वही, ४.३९५; ७३. वही, १०.६२; ७४. वही, ६.८८; ७५. वही, ६.९७; ७६. वही, ८.१२; ७७. वही, ३.१२-१३; ७८. वही, ५.२९; ७९. वही, ९.१९५; ८०. वही, १०.६२; ८१. वही, ३.२२९; ८२. वही, ५.२७२-३; ८३. वही, १.२६-७; ८४. वही, २.१५; ८५. वही, १०.२२२; ८६. वही, २.२३९; ८७. वही, ९.१९२; ८८. वही, ३.९६-७; ८९. वही, २.१५६; ९०. वही, १.९०; ९१. वही, ९.२६०-२६१

सुग्रीव-चरित (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'सुग्रीव-चरित' पर कुल ३ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके प्रथम प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

परशुराम जी की समस्या यह है कि वे स्वयं अभिमान के प्रेमी है और इस कारण वे दान का चुनाव करते हैं। ज्ञान बहुत दिनो तक उनके कन्धे पर रहा, पर उसका उपयोग उन्होने नहीं किया। इसका अभिप्राय क्या है? ज्ञान यदि कन्धे पर रहे और उसका उपयोग न किया जाय, तब तो वह भी बेकार का बोझ मात्र है। इसका अभिप्राय है कि यदि ज्ञान के द्वारा मोह का विनाश नही हुआ, तो उसकी कोई सार्थकता नहीं। आगे चलकर परशुराम जी के जीवन में जो समर्पण है, अन्त में भगवान श्रीराम से उन्होंने यही कहा कि इस धनुष को लेकर यदि तुम खीच लो, चढ़ा लो, तो मैं समझ लूँगा कि भगवान का अवतार हो गया। भगवान श्रीराम अपना हाथ आगे नहीं बढ़ाते। धनुष स्वयं परशुराम जी के हाथ से निकलकर भगवान श्रीराम के हाथ में चला जाता है। यह देखकर परशुराम जी चकित हो जाते हैं। उन्होंने धनुष की ओर देखा और पूछा कि इतने दिनों तक मैं तुम्हें अपने कन्धे पर धारण किये रहा और आज तुम मुझे छोड़कर भाग खड़े हुए? उन्होंने हाथ भी नहीं बढ़ाया और तुम स्वयं चले गये? धनुष ने परशुराम जी से कहा – "महाराज, आपको तो प्रसन्न होना चाहिये कि आपका बोझ हल्का करनेवाला आ गया। इसलिये मैं उनके पास चला जा रहा हूँ कि आपके लिये तो मैं भार था और वे आपका भार हल्का करने आये हैं। आपके लिए जो वस्तु बोझ बन गयी है, उसे वे ढोयेंगे नहीं, बल्कि उसका उपयोग करेंगे। वहाँ जाकर ही मेरी धन्यता है।" धनुष के इस तत्त्व को परशुराम जी ठीक ठीक समझ जाते हैं और धनुष समर्पित हो जाता है। परन्तु भगवान राम के द्वारा रावण का वध करने के बाद जब ज्ञान के धनुष का भी परित्याग कर दिया गया, तब इसका अभिप्राय क्या है? – यह कि सात्त्विक अभिमान के द्वारा हम मन को जीतने की चेष्टा करें, पर ज्ञान के द्वारा मोह को जीतने के बाद भी 'मै ज्ञानी हूँ' यह वृत्ति बनी रह गई, तो सच्चे अर्थो में जिसे अभिमानशून्यता कहते हैं, वह तो नही हुआ। परशुराम जी के मन मे धनुष का अभिमान था, धनुष से आसक्ति थी, पर भगवान राम के जीवन मे वैसा नहीं था। लंका-विजय के बाद उद्देश्य पूर्ण हो जाने पर उन्होने ज्ञान के धनुष को उतार कर गुरु के चरणो में रख दिया। किसी ने पूछ दिया कि आपने ऐसा क्यो किया? इसका संकेत-सूत्र यह है – धनुष है ज्ञान; और गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता –

बिनु गुर होइ कि ग्यान।। ७/८९

इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुत: रावण का वध मैंने थोड़े ही किया। रावण का वध इस ज्ञान के धनुष के द्वारा ही हुआ और इस ज्ञान के दाता तो गुरुदेव हैं, उन्होंने ही कृपा करके मुझसे वध करवा लिया है। वस्तुत: मैं वध करने वाला नही हूँ। इसका अभिप्राय यही है –

गुर बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे।
इन्हकी कृपाँ दनुज रन मारे।। ७/८/६

इस प्रकार 'मानस' का मूल दर्शन यह है कि जब तक गुण के साथ-साथ गुणी होने का भाव बना रहेगा, ज्ञान के साथ-साथ ज्ञानी होने की वृत्ति रहेगी, तब तक व्यक्ति अपूर्ण है।

अब इस सन्दर्भ में उन सुग्रींव के चरित्र पर विचार करके देखिये, जिन्हें हनुमान जी इतना महत्त्व देते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। पहली तो यह कि हनुमान जी ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं, पर उनके व्यक्तित्व में यदि कहीं भी अभिमान का यत्किंचित् भी लेश होता, तो वे सुग्रीव को महत्त्व न दे पाते। परन्तु स्वयं इतने महान् होते हुए भी जब वे सुग्रीव के चरणों में गिर सकते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि सचमुच उन्हें जो **'ज्ञानीनाम् अग्रगण्यम्'** की उपाधि दी गई, वह सर्वथा सार्थक है। वे सचमुच इतने अभिमानशून्य हैं कि उनमें अभिमान का लेश भी नहीं है। किसी ने उनसे पूछा – महाराज, आपको सुग्रीव में ऐसी कौन-सी विशेषता दिखायी देती है कि आप उनके चरणों में नमन करते हैं, उनको इतना महत्व देते हैं? हनुमान जी बोले – अभिमान को मिटाने के लिये सुग्रीव का चरित्र जितना उपयोगी होगा, उतना और किसका हो सकता है? इसका अभिप्राय क्या है? हनुमान जी ने कहा – भगवान जब किसी पर कृपा करते हैं और उस व्यक्ति को जब यह दिखायी देता है कि मैंने इतनी तपस्या की, इतनी साधना की, मेरे जीवन में इतने सद्गुण हैं, तो वह यह माने बिना नहीं रहता कि यह जो ईश्वर की कृपा हुई है, वह मेरी विशेषता का ही परिणाम है। हनुमान जी का अभिप्राय क्या है? सुग्रीव के चरित्र को ही देखकर अभिमान पूरी तरह टूट जाता है। कैसे? यदि भगवान की कृपा का सम्बन्ध व्यक्ति के अपने ही गुणों से होता, तब तो सुग्रीव पर भगवान की कृपा कभी हो ही नहीं

सकती थी। सुग्रीव के चरित्र में जो सबसे बड़े महत्त्व का पक्ष है, वह अभिमान को नि:शेष करनेवाला पक्ष ही है।

प्रारम्भ मे जब हनुमान जी और प्रभु का मिलन हुआ, तो उस मिलन मे एक बड़ी मधुर बात आयी। पहले तो हनुमान जी ने प्रभु के चरणों में प्रणाम किया और पूछा कि आप कौन हैं? प्रभु ने भी बदले में पूछ दिया – ब्राह्मण देवता, मैंने तो अपना चरित सुना दिया, अब आप भी अपनी कथा सुनाइये –

आपन चरित कहा हम गाई ।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ।। ४/२/४

हनुमान जी ने अपना परिचय उस तरह से नहीं दिया, जैसी पद्धति है। जैसे भरत जी को जब उन्होंने अपना परिचय दिया तो यह कहकर दिया कि – मेरा नाम हनुमान है और मैं पवन का पुत्र हूँ –

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना ।
नाम मोर सुनु कृपानिधाना ।। ७/२/८

पर जब भगवान श्रीराम ने हनुमान जी से पूछा कि ब्राह्मण देवता आप कौन है? तो उन्हें वही वाक्य कहना चाहिये था कि मैं पवनपुत्र हूँ और मेरा नाम हनुमान है। पर हनुमान जी ने तो बड़ा विचित्र परिचय दिया। वे कहते हैं – महाराज, मैं तो मन्द हूँ, मोहवश हूँ, कुटिल-हृदय हूँ और अज्ञानी हूँ –

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।। ४/२

प्रभु ने मुस्कुराकर देखा। बोले – "ऐसा परिचय तो मैंने कभी सुना ही नहीं, अपना नाम नहीं, अपने पिता का नाम नही। अरे भाई, परिचय दे रहे हो, तो अपना नाम बताओ।" आप हनुमान जी के जीवन में एक विलक्षण यह बात पायेंगे कि उन्होंने न तो रावण की सभा में अपना नाम बताया और न प्रभु राम को अपना नाम बताया। दोनों को अपना नाम नहीं बताया। इसके पीछे हनुमान जी का बड़ा दिव्य भाव है। रावण ने भी हनुमान जी से पूछा –

कह लंकेस कौन तैं कीसा ।। ५/२१/१

पर हनुमान जी का उत्तर इतना लम्बा-चौड़ा था कि रावण सुनते-सुनते उब गया। वे सीधा-सा परिचय दे सकते थे कि मेरा नाम हनुमान है, पर उन्होंने प्रारम्भ कहाँ से किया? –

सुनु रावण ब्रह्मांड निकाया ।
पाइ जासु बल बिरचति माया ।।
जाके बल बिरंचि हरि ईसा ।
पालत सृजत हरत दससीसा ।।
जा बल सीस धरत सहसानन ।
अंडकोस समेत गिरि कानन ।।
धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता ।
तुम्ह ते सठन्ह सिखावनु दाता ।।
हर कोदंड कठिन जेहि भंजा ।
तेहि समेत नृप दल मद गंजा ।।
खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली ।
बधे सकल अतुलित बलसाली ।। ५/२१/३-८

– हे रावण, सुनो; जिनका बल पाकर माया सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की रचना करती है; हे दशानन, जिनके बल से ब्रह्मा, विष्णु, महेश सृष्टि का सृजन-पालन-संहार करते हैं; जिनके बल से हजारों फनोंवाले शेषनाग पर्वत तथा वनसहित सारे ब्रह्माण्डों को सिर पर धारण करते हैं; जो देवताओं की रक्षा के लिए नाना प्रकार के देह धारण करते हैं और जो तुम्हारे-जैसे मूर्खों को शिक्षा देनेवाले हैं; जिन्होंने शिवजी के कठोर धनुष को तोड़ने के साथ ही राजाओं का गर्व भी चूर कर दिया।

इतना कहने के बाद तब बोले –

जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि ।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि ।। ५/२१

– जिनके बल का कणमात्र पाकर तुमने सम्पूर्ण चराचर जगत् को जीत लिया है और जिनकी प्रिय पत्नी को तू हर लाये हो, मैं उन्ही का दूत हूँ।

इतना लम्बा परिचय! और उसके बाद, मैं उनका दूत हूँ। पूछा गया – महाराज, अपना नाम क्यों नहीं बता दिया? हनुमान जी बोले – "मैं यह सोच रहा था कि यह सुनने के बाद शायद उसके मुँह से यह प्रश्न निकल पड़े कि क्या तुम राम के दूत हो? मैं सोचता था कि इस भलेमानुष के मुख से कम-से-कम एक बार तो प्रभु का नाम निकले। मेरा नाम सुनने के बाद यह प्रभु का नाम नहीं लेगा।" यह बहुत बढ़िया बात है – अपने नाम को भुला देना, अपने नाम की आसक्ति को मिटा देना ही प्रभु के नाम का प्रचार है। हनुमान जी चाहते हैं कि प्रभु के नाम का प्रचार हो, रावण प्रभु के नाम को जाने, इसलिये अपना नाम नहीं बताया।

और जब वे भगवान को अपना परिचय देते हैं –

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।। ४/२

यह सुनकर प्रभु बोले – "मन्द, मोहबस, कुटिलहृदय और अज्ञान – ये चार-चार दु:ख आप अपने सुना रहे हैं। आपकी कथा तो बड़ी दु:खभरी है, लगता है आप बड़े दुखी हैं। पर इन चारों में सबसे अधिक दु:ख आपको किस बात का है?" हनुमान जी ने उलाहना देते हुए कहा – इन चारों ने मुझे उतना दु:ख नहीं दिया जितना आपने दे दिया। – कैसे? उन्होंने कहा – "प्रभो, आपने जो यह पूछ दिया कि ब्राह्मण देवता आप कौन हैं? इसका अर्थ है कि आपने मुझे भुला दिया है। जीव की कमी कोई कमी नहीं है, पर ईश्वर यदि उसे भुला दे, तो इससे बढ़कर जीव का दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। आप जब मुझसे पूछ रहे हैं परिचय, नाम ...?"

व्यक्ति के सामने यह समस्या होती है। आप किसी से मिले हों, तो आपकी भी इच्छा होती है कि वह आपका नाम

जाने और कही मिलन पर वह आपका नाम ले। मैं तो ऐसी स्थिति में बड़े संकट मे पड़ जाता हूँ। मुझे नाम बड़ी जल्दी भूल जाते हैं। जब मैं किसी नगर में होता हूँ और किसी दूसरे नगर का श्रोता आता है, उससे भेंट हाती है, तो यह तो लगता है कि हाँ, कही देखा तो है, पर नाम याद नहीं आता और श्रोता बड़े प्रेम से पूछ देता है, आपने मुझे पहचाना? अब मैं क्या कहूँ? यदि कहूँ कि नही पहचाना, तो उसे बड़ी चोट लगेगी और यदि कहूँ कि हाँ, पहचान रहा हूँ, तब उससे भी छुट्टी नही मिलती। पूछ देते है – तो बताइये मेरा नाम क्या है? अब मैं चक्कर में पड़ जाता हूँ कि भई, यह तो मेरे बस की बात नही है। जीव की समस्या यह है कि वह किस किस का नाम याद रखेगा? पर हनुमान जी ने प्रभु को उलाहना दिया कि मैंने आपका नाम पूछा और आपने भी मेरा नाम पूछ दिया। प्रभु ने कहा – शिष्टाचार तो यही है कि एक व्यक्ति परिचय पूछे, तो दूसरे को भी परिचय पूछना चाहिये। हनुमान जी ने कहा – नही महाराज, मैंने पूछा यह तो बिल्कुल ठीक है, परन्तु आपने पूछकर बिल्कुल भी ठीक नहीं किया –

मोर न्याउ मैं पूछा साईं।
तुम पूछहु कस नर की नाईं ।। ४/२/७

प्रभु मुस्कुराने लगे। हनुमान जी उलाहना देते हुए कहते कहते हैं – प्रभो, आपकी माया के कारण मैं आपको भूल गया, तो क्या मायानाथ भी मुझे भूल गये? –

नाथ जीव तव मायाँ मोहा।
सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा ।। ४/३/२
तव माया बस फिरउँ भुलाना।
ताते मैं नहीं प्रभु पहिचाना ।। ४/२/८

यह विचित्रता आप देखेंगे। हनुमान जी ने अन्त तक अपना नाम नहीं बताया। उनका नाम प्रभु के मुख से ही तब निकला, जब वे हनुमान जी को उपदेश देते हुए बोले –

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमन्त। ४/३

'हनुमन्त' सुनते ही हनुमान जी गद्‌गद हो गये। वे बोले – बस, मेरा भ्रम दूर हो गया। प्रभु ने यह भी कह दिया –

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।। ४/३/७

– "हे कपि, सुनो; तुम अपने मन में कोई ग्लानि मत मानना। तुम तो मुझे लक्ष्मण जी से भी दुगुने प्रिय हो।"

हनुमान जी ने तो यह चौपाई रट ली। जब वे किशोरी जी के पास गये तो किशोरी जी ने उन्हें उलाहना देते हुए कहा – प्रभु इतने निष्ठुर कैसे हो गये? –

कोमल चित कृपालु रघुराई।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई ।। ५/१४/४

तो हनुमान जी ने जो चौपाई प्रभु से सुनी थी, वही माँ के सामने दुहरा दी। प्रभु ने हनुमान जी से कहा था –

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।। ४/३/७

और हनुमान जी ने माँ से कहा –

जनि जननी मानहु जिय ऊना।
तुम्ह ते प्रेमु राम के दूना ।। ६/१४/१०

हनुमान जी ने कहा – "माँ, भ्रम ही तो होता है कि ईश्वर ने मुझे भुला दिया है, पर बाद में यही दिखाई देता है कि भले ही भगवान को भूल जायँ, पर भगवान इतने करुणामय है कि जो उनसे प्रेम करते हैं, उनसे वे अधिक-से-अधिक प्रेम करते है। जब साधारण से जीव के लिये उनके मन में इतना अधिक प्रेम है, तो फिर आपके प्रति उनके प्रेम का वर्णन कैसे किया जा सकता है?"

हनुमान जी से मिलने पर प्रभु पूछते हैं – ब्राह्मण देवता आप कौन हैं, अपना परिचय दीजिये? –

कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।

इस पर उलाहना देते हुए हनुमान जी कहते हैं – प्रभो, मैं अर्थात् जीव आपको भूल गया, पर क्या आप भी मुझे भूल गये? इस सन्दर्भ में एक संकेत मैं आपको देना चाहूँगा। गोस्वामी जी ने एक बात कही है कि भगवान भी एक तरह से बड़े भूलनेवाले के रूप में याद किये गये हैं। उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में जब माँ से प्रार्थना की कि आप प्रभु को मेरी याद दिला दीजियेगा, तो माँ ने पूछा – क्या उनको याद दिलाना पड़ता है? उन्होंने कहा – हाँ। – क्यों? बोले – प्रभु इतने भुलक्कड़ हैं कि वे स्वयं अमानी हैं और दूसरों को मान देनेवाले हैं –

कबहूँ समय सुधि द्यायबी, मेरी मातु जानकी ।।
बानि बिसारनसील है मानद अमान की ।। वि. ४२

इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई व्यक्ति दूसरे को मान देता है, तो इसका अर्थ है – अपने अहं को विस्मृत कर देना। कोई अपने अहं को विस्मृत कर देगा, तभी तो दूसरे को मान देगा। दूसरों को सम्मान देने का अर्थ यही है कि उसमें यह भावना इतनी अधिक है कि वह सम्मान देने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करता। जो दूसरों को सम्मान नहीं देता, इसका अर्थ है कि उसके पास सम्मान देने की वृत्ति की कमी है, दूसरों को देने में हिचक रहा है। गोस्वामी जी श्री सीता जी से कहते हैं, प्रभु चार चीजों को भूल जाते हैं। क्या? –

निजगुन, अरिकृत अनहितौ, दास-दोष,
सुरति चित रहत न, दिये दान की ।। वि. प. ४२

– "अपने गुण, शत्रु के द्वारा किया गया अपकार, सेवक का दोष और अपना किया हुआ दान – ये चार बातें भूल जाते हैं।" ऐसे भुलक्कड़ हैं भगवान। इसलिए गोस्वामी जी माँ से कहते हैं – माँ आप इन्हे मेरी याद दिला दीजियेगा।

किसी ने हनुमान जी से पूछा – "आप जैसे व्यक्ति, जो निरन्तर प्रभु का स्मरण करते रहते हैं और सुग्रीव जैसा व्यक्ति जो राज्य और भोगों को पाकर प्रभु को भूल गया, कहीं इन दोनों की बराबरी हो सकती है? फिर भी आपके मन में सुग्रीव के प्रति इतना सम्मान क्यों है?" इस पर हनुमान जी ने कहा – यहाँ पर तो सुग्रीव ने ही बाजी मार ली। – कैसे? बोले – "मैं प्रभु की याद करता हूँ, यह मेरा सौभाग्य है, लेकिन धन्य तो सुग्रीव हैं, जिनकी प्रभु याद किया करते हैं। भुलक्कड़ स्वभाव वाले प्रभु भी जब उन्हें नहीं भूल पाते, उनकी याद करनेवाले बन गये, वे क्या कम सम्मान के पात्र हैं? प्रभु स्वयं जिनकी याद करते हैं, उनके प्रति भला सम्मान क्यों नहीं होगा? सुग्रीव को पाकर प्रभु का स्वभाव इतना बदल गया है कि अपना किया भला जिन्हें याद नहीं रहता उन्हें एक दिन याद आ गया।" – कब? – जब चार महीने सुग्रीव प्रभु से मिलने नहीं आये, तब प्रभु लक्ष्मण से कहते हैं –

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी ।। ४/१८/४

इसका अर्थ है कि अपना किया गया भला याद आ गया। उन्हें याद आ गया कि मैंने सुग्रीव को राज्य दिया, उसकी पत्नी से मिलाया, यह दिया, वह दिया। प्रभु को दास का दोष याद नहीं आता, पर अब तो ऐसा याद आया कि –

जेहि सायक मारा मैं बाली।
तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।।

दास का दोष भी याद आ गया। हनुमान जी ने कहा कि कितनी सुन्दर बात है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान का भूलनेवाला स्वभाव उनके अमानत्व का सूचक तो है, पर जीव का कल्याण कब होगा? जब प्रभु भूलनेवाले न होकर याद करनेवाले बन जायँ। सुग्रीव के सन्दर्भ में प्रभु जो इतनी याद कर रहे हैं, वह किसलिए? अभिमान के कारण नहीं। उनका उद्देश्य क्या है? ज्योंही लक्ष्मण जी ने कहा – "प्रभो, यह कार्य आप मुझे दे दीजिये। मैं अभी जाता हूँ, इसको कल पर छोड़ना ठीक नहीं, मैं आज ही सुग्रीव का वध कर देता हूँ।" प्रभु ने उनका हाथ पकड़ लिया, बोले – लक्ष्मण, क्या तुम सचमुच सुग्रीव को मारने की बात सोच रहे हो? – प्रभो, अभी आप ही तो कह रहे थे। प्रभु ने कहा – नहीं, नहीं।

बालि, सुग्रीव और हनुमान जी के चरित्र के सन्दर्भ में यदि आप विचार करके देखें तो बालि में सद्गुण हैं, पर उन सद्गुणों के साथ बालि की सबसे बड़ी समस्या है – अभिमान। इस अभिमान से बालि अपने आपको मुक्त नहीं कर पाता। यह संकेत-सूत्र पौराणिक सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। यह माना जाता है कि बालि का जन्म इन्द्र के अंश से हुआ है और इन्द्र का पद सर्वश्रेष्ठ पुण्य से मिलता है। यह पौराणिक मान्यता है। यहाँ पर सूत्र यह है कि कहीं पुण्य हो और पुण्याभिमान न हो, यह बड़ी दुर्लभ बात है। आप चाहे श्रीमद्भागवत पढ़ें या रामायण को, सर्वत्र यही सूत्र पायेंगे। बालि स्वयं को अभिमान से मुक्त नहीं कर पाता। श्रीमद्भागवत में जब इन्द्र की पूजा रोक दी गयी, तब उन्हें बड़ा क्रोध आता है। यही पुण्यात्मा की दुर्बलता है, वह स्वयं को अहं से मुक्त नहीं कर पाता।

यही बात आप रामायण में भी देखेंगे। भगवान राम और रावण का युद्ध हुआ तो इन्द्र ने रथ कब भेजा? अरे भाई, लंका में जिस दिन युद्ध प्रारम्भ हुआ, उसी दिन भेज देना चाहिये था, पर इतने दिनों तक युद्ध चला तब तो नहीं भेजा और राम-रावण के युद्ध के पहले दिन भी रथ नहीं भेजा। दूसरे दिन भेजा। यह वही मनोविज्ञान है। किसी देवता ने इन्द्र से कहा – महाराज, आप रथ क्यों नहीं भेज देते? इन्द्र ने तत्काल कहा – पहले वे कहलबा तो भेजें कि मुझे रथ की आवश्यकता है; वे कहें तो मैं रथ भेज दूँगा। – श्रीराम तो बड़े संकोची स्वभाव के हैं, यदि उन्होंने नहीं कहा तो क्या हुआ, आपको तो अपनी ओर से भेज देना था। इन्द्र ने तर्क दिया – "जिन्हें केवट से नाव माँगने में संकोच नहीं हुआ, उन्हें मुझसे रथ माँगने में संकोच क्यों हो रहा है? तब तो वे गंगा के किनारे खड़े होकर केवट से कहने लगे कि भाई, नाव लाओ, हमें गंगा पार करा दो, हम तुम्हारे नाव के बिना पार नहीं हो सकते। इसी तरह मुझे भी तो एक बार कहलवा देते कि मुझे अपना रथ दे दो।"

यहाँ पर गोस्वामी जी ने एक सूत्र दिया और वह सूत्र बड़ा विलक्षण है। वे कहते हैं – प्रभु एक अनोखा कार्य किया करते हैं। – क्या? बोले – छोटे की लघुता दूर करते हैं और बड़े का अभिमान। दोनों के सामने एक-एक समस्या है। जो व्यक्ति छोटा है, उस बेचारे के सामने समस्या है दीनता की। वह दीनता की भावना से ग्रस्त है और जो व्यक्ति बड़ा है, वह अभिमान के भाव से ग्रस्त है। यह हीनता और अभिमान, दोनों ही अन्त:करण की ग्रन्थियाँ हैं। प्रभु क्या करते हैं? –

बड़े की बड़ाई छोटे की छुटाई दूरि करै।। वि. १८३

इसका अभिप्राय क्या है? केवट से नाव माँगकर भगवान राम मानो उसके अन्त:करण में स्थित लघुता और हीनता की वृत्ति को मिटा देते हैं। और जब उन्होंने इन्द्र से रथ नहीं माँगा तो इसके पीछे उनका अभिप्राय यह था कि वे इन्द्र के अभिमान को प्रोत्साहित नहीं करना चाहते। युद्ध के पहले दिन भगवान राम की ही विजय हुई। तब इन्द्र को चिन्ता हुई कि रथ नहीं भेजूँगा, तो भी विजय तो श्रीराम की ही होगी, पर मेरा नाम इतिहास में नहीं लिखा जायेगा। इसलिये कम-से-कम अब तो रथ भेज ही देना चाहिये। यह जो पुण्यात्मा में अभिमान की वृत्ति है, इसका छूटना बड़ा कठिन है। प्रभु ही इसे दूर करते हैं। दोनों को दूर करते हैं – बड़े के अहंकार को और छोटे की हीन भावना को। दोनों को सामान्य स्थिति में

ला देते हैं। अब विचार करके देखें। प्रभु ने बालि का अभिमान दूर किया और सुग्रीव के चरित्र में जो हीन भावना है, जो दीनता है, उसे भी दूर कर देते हैं। उसका सदुपयोग कर लेते हैं। इसलिये उन्होंने लक्ष्मण जी से बड़ी सुन्दर बात कही। उन्होंने कहा कि सुग्रीव बड़ा डरपोक था, मैंने बालि को मार दिया, तो उसका डर दूर हो गया, वह बड़ा निश्चिन्त हो गया और अन्त में मुझे ही भूल गया। तुम जाकर उसके मन में बस थोड़ा भय पैदा कर दो, फिर वह भक्त बन जायेगा। अभिमानी भी भक्त बन गया अभिमान छूटने पर और निर्भय भी भक्त बन जायेगा भय उत्पन्न होने पर। लक्ष्मण जी जाने लगे तो प्रभु ने उनका हाथ पकड़ लिया, बोले – ध्यान रखना, सुग्रीव जितना डरपोक है, उतना ही भगोड़ा भी है। उसे ऐसा न डराना कि वह भाग खड़ा हो –

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाई लै आवहु तात सखा सुग्रीव।। ४/१८

इधर ही ले आना, देखना कहीं भाग न जाय। डर की दो ही प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं – या तो व्यक्ति डर से दूर चला जाये अथवा डर से पास चला आये। व्यक्ति जब किसी सीमित देश में होता है और वह किसी से डरता है, तो वह उससे दूर भाग जाता है, परन्तु जब वह सर्वव्यापक ईश्वर से डरता है, तो वह भागकर कहाँ जायेगा? तब वह उसके पास आ जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब उसकी समझ में आ जाय कि भागकर कहाँ जायेंगे, तब लगेगा कि डरकर भागना व्यर्थ है।

आगे इसका विस्तृत विवेचन आयेगा कि कैसे भगवान श्री राघवेन्द्र की करुणा इतनी उमड़ पड़ी कि उन्होंने मानो अपने स्वभाव को भी भूलकर सुग्रीव को अपनाने के लिये, जैसे किसी नीचे गिरे हुए व्यक्ति को उठाने के लिये कोई उदार व्यक्ति ऊपर से नीचे उतर आवे, वैसे ही प्रभु ने जो यह अभिनय किया, जिस तरह से उन्होंने सुग्रीव को याद किया और अन्त में जिस तरह से सुग्रीव को बुलाया, इसमें गोस्वामी जी का सूत्रात्मक संकेत यही है कि सुग्रीव के चरित्र के माध्यम से हमें निरन्तर इस बात का भान होता रहे कि प्रभु जो कृपा करते हैं, वह अपने स्वभाव से करते हैं, जीव की विशेषता से नहीं। जीव यदि कृपा को अपनी विशेषता से जोड़ेगा, तो अभिमान आये बिना नहीं रह सकता।

सुग्रीव के चरित्र में एक तत्त्व शरणागति का है, दूसरा कर्म का और तीसरा ज्ञान का। यथासम्भव इन तीनों की संगतियों की चर्चा की जायेगी।

शरणागति से क्या तात्पर्य है? बालि के चरित्र में सामर्थ्य का उपयोग है और सुग्रीव के चरित्र में असमर्थता का। सामर्थ्य का सदुपयोग कैसे किया जाय? जैसे बालि का अभिमान नष्ट हुआ और भगवान ने उसके सिर पर हाथ रख दिया। दूसरी ओर जिसमें सामर्थ्य नहीं है, सामर्थ्य की अनुभूति नहीं है, जिसे अपनी असमर्थता का भान हो रहा है, उस असमर्थ व्यक्ति को भी जब अपनी असमर्थता का ठीक-ठीक सही अर्थों में भान हो जायेगा, तो वह विषयी व्यक्ति भी ईश्वर को पा लेगा। बस यही मूल सूत्र है। सुग्रीव के चरित्र का जो यह शरणागति का पक्ष है, इस सन्दर्भ में गोस्वामी जी यह बताना चाहते हैं कि मानो इसके द्वारा व्यक्ति का साधनाभिमान दूर हो जाय और व्यक्ति इसे अनुभव करे। सुग्रीव ने जो अपनी कथा सुनाई, उसमें बार-बार भागने का ही उल्लेख किया। भगवान राम ने उसे बालि से लड़ने भेजा, तो वहाँ बालि का मुक्का पड़ते ही वह फिर भागा –

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। ४/७/३

लक्ष्मण जी से नहीं रहा गया। बोले – प्रभु! आपने उसे मित्र बना लिया, तो भी उसका स्वभाव तो बदला नहीं, भगोड़ा का भगोड़ा ही बना रहा। पहले भी जीवन भर भागता रहा और आज भी भाग रहा है। भगवान हँसकर बोले – लक्ष्मण, तुमने ध्यान नहीं दिया। पहले भागा तो संसार की ओर भागा और इस बार भागा तो मेरी ओर, मेरे पास आया। कुछ गुण तो आ गया न! वस्तुतः सुग्रीव का चरित्र कई दृष्टियों से बड़ा सांकेतिक है। अगले दो व्याख्यानों में इसी पर चर्चा होगी।

❖ (क्रमशः) ❖

कर्तव्य-पालन क्यों?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य और पशु में एक मौलिक अन्तर यह है कि मनुष्य में बोध होता है, जबकि पशु में नहीं। वैसे तो ज्ञान पशु को भी होता है, पर ज्ञान और बोध में अन्तर है। एक पश्चिमी विद्वान् ने पशु और मनुष्य का अन्तर बताते हुए कहा है - "An aminal knows and a man knows, but an animal does not know that he knows, while a man knows that he knows." - अर्थात् "पशु भी जानता है और मनुष्य भी जानता है, पर पशु यह नहीं जानता कि वह जानता है, जबकि मनुष्य यह जानता है कि वह जानता है।" अर्थात् मनुष्य को अपने ज्ञान का बोध होता है, जबकि पशु को ऐसा नहीं होता। मनुष्य की यही क्षमता उसको पशु से भिन्न करती है। एक संस्कृत सुभाषित में मनुष्य और पशु के इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

आहारनिद्राभय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
एको हि तेषां धर्मो विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः॥

- "भोजन, नींद, भय और प्रजनन की प्रवृत्ति - ये पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती हैं। एक 'धर्म' का तत्त्व मनुष्यों में अधिक होता है, वह यदि मनुष्य में न हो, तो वह पशु के ही समान है।"

इस सुभाषित में धर्म को मनुष्य और पशु में अन्तर करनेवाला तत्त्व बतलाया गया। इसी धर्म को हमने पूर्व में बोध कहा है। इसको कर्तव्य-बोध भी कहते हैं। अर्थात् धर्म वह है, जो मनुष्य में कर्तव्य-बोध भरता है। पशु में कोई कर्तव्य-बोध नहीं होता, वह तो अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित होता है। एक स्वामिभक्त कुत्ता जब अपने स्वामी की रक्षा करने के लिए चोर पर झपट पड़ता है, तो वह कर्तव्य-बोध से प्रेरित होकर ऐसा नहीं करता, अपितु अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित हो ऐसा करता है, जिसे हम अंग्रेजी में instinct कहते हैं। कर्तव्य-बोध की क्षमता मनुष्य में ही होती है। इसीलिए वह पुरस्कार पाने का भी अधिकारी होता है और दण्ड पाने का भी। पर कभी किसी ने अपने मालिक को बचानेवाले कुत्ते को पुरस्कार देकर सम्मानित नहीं किया।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हमें अपने कर्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। इसलिए करना चाहिए कि यही मनुष्य की मनुष्यता को उजागर करता है। वैसे तो पशु-भाव केवल पशु का ही गुण नहीं, वह मनुष्य में भी भरा होता है, पर मानव-जीवन की सार्थकता इसमें है कि अपने भीतर का पशु-भाव दूर कर मानवता को जगाया जाय। इस प्रक्रिया में, एक सक्षम साधन के रूप में कर्तव्य-बोध ही सामने आता है, जिसे पूर्व में कहे गये सुभाषित में 'धर्म' कहकर पुकारा गया है।

अपने स्वार्थ के लिए जीना पशुता है और दूसरों के लिए जीने की चेष्टा करना मनुष्यता की अभिव्यक्ति है। यदि मनुष्य भी केवल अपने लिए जिए, तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। कर्तव्य-बोध हमें दूसरों के लिए जीना सिखाता है। अधिकार-बोध यदि स्वार्थ का द्योतक है, तो कर्तव्य-बोध निःस्वार्थता का। स्वामी विवेकानन्द स्वार्थ को अनैतिक और स्वार्थहीनता को नैतिक बताते हैं। वे कहते हैं - "निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जो जितना ही अधिक निःस्वार्थी है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिव के समीप है। और वह यदि स्वार्थी है, तो उसने चाहे सभी मन्दिरों में दर्शन किये हों, चाहे सभी तीर्थों का भ्रमण किया हो, चाहे उसने अपने शरीर को चीते के समान रँग लिया हो, तो भी वह शिव से बहुत दूर है।" यह कर्तव्य-पालन का तात्त्विक आधार है।

फिर, हमें इसलिए भी अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए कि उससे परिवार, समाज और देश टूटकर बिखरने से बचता है। कल्पना करें कि पिता, माता, सन्तान, शिक्षक, छात्र, अधिकारी, कर्मचारी, व्यवसायी, किसान, मजदूर - सब अपने अपने कर्तव्यों से कतराने लगें, तो कैसी विशृंखला की सृष्टि होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मैं यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो मुझे किसी से कहने का अधिकार नहीं है कि तुम अपने कर्तव्य का पालन क्यों नहीं कर रहे हो? यदि मैं अपनी पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो मैं यह कहने का अधिकारी नहीं कि पत्नी अपना कर्तव्य निभाए। सारांश यह कि कर्तव्य-बोध ही जीवन की धुरी है। वह हमारी मनुष्यता को प्रकट कर हमें सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता है। जिस परिवार, जिस समाज और जिस देश में जितनी सख्या में ऐसे कर्तव्य-बोध से पूर्ण मनुष्य होते हैं, वह परिवार, वह समाज और वह देश उतनी ही मात्रा में बलवान्, सम्पन्न और सुदृढ़ होता है।

❑❑❑

माँ के सान्निध्य में (७४)

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे थे । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद । – सं.)

जितेन्द्र मोहन चौधरी

जयरामबाटी में एक भक्त ने माँ से जप के विषय में पूछा था, "जब यात्रा के दौरान रेलगाड़ी या स्टीमर में रहना पड़ता है, तब किस प्रकार जप करूँगा?" इस पर माँ ने कहा था, "बेटा, क्रमशः हाथ-मुख सब बन्द हो जायेंगे, केवल मन चलेगा। अन्त मे मन ही गुरु हो जायेगा।"

एक दिन बातचीत के दौरान मठ के संन्यासियों के विषय में माँ ने कहा था, "जीव की मुक्ति की चाभी इन लोगों के हाथ में है।"

एक बार वाराणसी में श्रीमाँ के जन्मदिन पर स्वामी केशवानन्द की माता अपने किसी सम्बन्धी के वियोग की बात याद करके रो रही थी। इस पर माँ ने कहा, "छी ! आज क्या रोना चाहिए, आज आनन्द का दिन जो है।"

कोयलपाड़ा में रथयात्रा के दिन हमारे एक गुरुभ्राता ने माँ से कहा, "माँ, मन बड़ा ही चंचल है। कैसे भी ठीक नहीं होता।" इसके उत्तर में माँ ने कहा था, "जैसे आँधी मेघ को उड़ा ले जाती है, वैसे ही उनके नाम से विषय-मेघ कट जायेगा।"

उसी दिन मेरे द्वारा मन की दुर्बलता के विषय में पूछने पर माँ ने कहा था, "काम क्या पूरी तौर से जाता है ! शरीर रहने पर थोड़ा-बहुत रहता ही है। परन्तु जानते हो! साँप के सिर पर धूल पड़ने से जैसा होता है, वैसा ही हो जायेगा।"

एक बार माँ ने कहा था, "भय की क्या बात है? सर्वदा याद रखना कि तुम्हारे पीछे कोई एक जन है।" और भी कहा था, "जब तक (मेरा) शरीर है, आनन्द मनाते जाओ।"

बातचीत के दौरान एक दिन माँ ने कहा, "घास और बाँस को छोड़ बाकी सबको यहाँ आना ही होगा।" इसका अर्थ मैंने यही समझा है कि जिन लोगो में थोड़ा भी सार नहीं है, इस बार केवल वे ही लोग छूटेगे, नही तो बाकी सभी लोग ठाकुर का भाव ग्रहण करेगे। स्वामी केशवानन्द तथा विद्यानन्द से भी माँ ने ऐसा ही कहा था।

एक भक्त-महिला ने माँ से पूछा था, "माँ, बहुत-से लोग तो शिवपूजा करते हैं, हम लोग भी शिवपूजा कर सकती हैं या नहीं?" इसके उत्तर में माँ ने कहा था, "मैंने तुम्हें जो मंत्र दिया है, उसी में सब – दुर्गापूजा, कालीपूजा सब उसी मंत्र से होता है। परन्तु किसी को इच्छा हो, तो सीखकर कर सकता है। तुम लोगों को वह सब करने की आवश्यकता नहीं है, वह सब करने से झंझट बढ़ेगा।"

ठाकुर के भोग-निवेदन के विषय में किसी ने माँ से पूछा था, "माँ, पूजा-पद्धति के मतानुसार निवेदन करने का मंत्र तो मैं नहीं जानती।" इस पर माँ ने कहा, "पूजा-पद्धति की इतनी जरूरत नहीं। इष्टमंत्र से ही सारा कार्य हो जाता है।

डॉ. उमेशचन्द्र दत्त

जयरामबाटी में एक दिन माँ ने कहा, "देखो बेटा, बचपन में देखा करती थी कि मेरे ही समान एक बालिका सर्वदा मेरे साथ साथ रहकर मेरे सारे कार्यो मे सहायता और मेरे साथ आमोद-प्रमोद करती थी। दस-ग्यारह साल की आयु तक ऐसा ही होता था।"

एक दिन माँ ने कहा, "ठाकुर के चले जाने के बाद से ही प्रायः देखती – एक दाढ़ीवाले संन्यासी मुझे पंचतपा करने को कहा करते थे। शुरू शुरू मे मैंने उस पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। पंचतपा क्या है, यह भी मैं ठीक से नही जानती थी। वे क्रमशः जोर देने लगे। उसके बाद योगेन (माँ) से पंचतपा के बारे में पूछने पर उसने कहा, "ठीक तो है माँ, मैं भी करूँगी।" तब पंचतपा की व्यवस्था की गयी। उन दिनों मैं बेलूड़ में नीलाम्बर बाबू के भवन में थी। चारो ओर उपले की आग और ऊपर से सूर्य की तेज धूप। सुबह स्नान करने के बाद पास जाकर देखा तो आग जोरों से जल रही थी। मन में बड़ा भय हुआ कि कैसे उसके भीतर जाऊँगी और सूर्यास्त तक वही बैठी रहूँगी। बाद में ठाकुर का नाम लेते हुए घुसकर देखा तो आग में जरा भी तेज न था। इसी प्रकार मैंने सात दिन किया। परन्तु बेटा, शरीर का रंग काले राख जैसा हो गया था। इसके बाद फिर कभी मुझे उन संन्यासी का दर्शन नहीं मिला।"

मैंने पूछा था, "माँ, ठाकुर ने कहा है कि जो उनके पास जायेंगे, उनका यह आखिरी जन्म है। आपके पास जो लोग आयेंगे, उनका क्या होगा?"

माँ – और क्या होगा, बेटा? यहाँ भी वही होगा।

मैं – माँ, जिन लोगों ने आपसे मंत्र लिया है, वे लोग यदि कोई जप-तप न करें, तो उनका क्या परिणाम होगा?

माँ – और क्या होगा? तुम लोग इतनी चिन्ता क्यों करते हो? मन की जो कामना-वासनाएँ हैं, उन्हें पूरा कर लो, बाद में रामकृष्ण-लोक में जाकर चिर शान्ति का भोग करोगे। ठाकुर ने तुम लोगों के लिए नये राज्य की सृष्टि की है।

एक भक्त मंत्र लेने के बाद उसका उँगलियों पर कैसे जप किया जाता है, यह भूल गये थे। उन्होंने माँ से उसे जान लेने का अनुरोध करते हुए मुझे पत्र लिखा था। माँ ने यह सुनकर कहा, "इससे भला क्या आता-जाता है? कैसे भी करने से हुआ। यह सब तो केवल मन को स्थिर करने के लिए है।"[१]

मैंने एक दिन उनसे मुक्ति तथा भक्ति के विषय में पूछा था। माँ ने कहा, "मुक्ति तो प्रतिक्षण दिया जा सकता है, परन्तु भक्ति को भगवान आसानी से देना नहीं चाहते।" उन्होंने ये बातें इस भाव से कहीं, मानो मुक्ति उनके हाथ की मुट्ठी में हो। यह बात कहने के बाद ही वे चली गयीं।

शुद्धि-अशुद्धि के बारे में एक दिन माँ ने कहा था, "देखो, बेटा, ठाकुर का पेट बड़ा कमजोर था। मैं नौबतखाने में रहकर उनके लिए झोल आदि बना दिया करती थी। महीने में तीन दिन महिलाएँ वह सब नहीं कर सकतीं, उन दिनों माँ (काली) के यहाँ से प्रसाद आ जाता। उसे खाते ही ठाकुर की बीमारी बढ़ जाती। एक दिन ठाकुर ने मुझसे कहा, "देखो, इन तीन दिन तुम्हारे भोजन न पकाने से मेरी बीमारी बढ़ी है। तुमने ये तीन दिन भोजन क्यों नहीं पकाया?" मैं बोली, "महिलाएँ अपने अशौच के तीन दिन किसी के लिए भोजन नहीं पका सकतीं।" ठाकुर बोले, "किसने कहा नहीं पका सकतीं? तुम मेरे लिए पकाना, इसमें दोष नहीं होगा। बोलो तो, तुम्हारे शरीर की कौन-सी चीज अशुद्ध है? चमड़ा या मांस या हड्डी या मज्जा? देखो, मन ही शुद्ध-अशुद्ध है। बाहर कुछ भी अशुद्ध नहीं है।" इसके बाद से मैं हमेशा उनके लिए भोजन बना दिया करती थी।[२]

कोयलपाड़ा में माँ की बीमारी के समय मैंने उनके लिए शरबत बनाकर, वह ठीक हुआ है या नहीं, यह जानने के लिए मैंने उसे चखने के बाद उन्हें दिया था। परन्तु माँ यह बात नहीं जानती थीं। इसके दो-तीन दिनों बाद माँ ने स्वयं ही कहा, "देखो, बेटा, किसी प्रिय व्यक्ति को कुछ खाने देने के पहले स्वयं ही चखकर देना बड़ा अच्छा है।" तब मैंने कहा, "माँ, मैंने आपका शरबत चखकर दिया था।" वे बोलीं, "अच्छा किया था, बेटा, प्रेम के पात्र को वैसे ही दिया जाता है। क्या तुमने सुना नहीं है, श्रीकृष्ण को खाने के लिए फल देने के पूर्व गोपबाल स्वयं उसे चख लिया करते थे?"

एक दिन मैंने उनसे पूछा, "माँ, रास्ता चलते किसी किसी आदमी को देखते ही लगता है मानो वे मेरे विशेष परिचित हों। बाद में जान-पहचान होने पर पता चलता है कि वे ठाकुर के या आपके भक्त हैं। सहसा देखकर वे इतने परिचित-से क्यों लगते हैं?" माँ बोलीं, "ठाकुर कहा करते थे – 'जैसे कलमी लता की बेल हो, एक को पकड़कर खींचने से ही सब हिलने-डुलने लगती हैं।' सभी एक ही वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएँ हैं।"

एक अन्य दिन मैंने पूछा, "माँ, अन्य अवतारों ने तो अपनी अपनी शक्ति के बाद देहत्याग किया, परन्तु इस बार ठाकुर आपको यहीं छोड़कर पहले ही क्यों चले गये?" माँ बोलीं, "बेटा, जानते हो न, ठाकुर का जगत् के हर प्राणी के प्रति मातृभाव था? जगत् में उसी मातृभाव के विकास के लिए इस बार वे मुझे छोड़ गये हैं।"

श्रीमती ...

एक दिन मैंने माँ से कहा था, "माँ, जिस दिन मैंने ठाकुर का पहली बार दर्शन किया, तब उनके शरीर से एक ज्योति निकल रही थी। काँच पर धूप पड़ने से जैसी आभा निकलती है, वैसी ही।" सुनकर माँ बोलीं, "बेटी, तुमने ठीक देखा है। जब मैं उनके शरीर में तेल मला करती थी, तो बीच बीच में वैसी ही ज्योति देख पाती थी।"

एक दिन उनकी भतीजी नलिनी नाराज होकर दिन भर उपवास किये रही। माँ के काफी प्रयास का भी कोई फल नहीं हुआ। आखिरकार माँ ने उसे बुला कर कहा, "मुझे अपनी बुआ मत समझ। मैं इच्छा करूँ तो इसी क्षण यह शरीर छोड़ दे सकती हूँ।"

ठाकुर का प्रसंग उठने पर एक बार माँ ने अपने सीने पर हाथ रखकर ललित (स्वामी कमलेश्वरानन्द) से कहा था, "मैं यदि ठाकुर के पास जाऊँ, तो तुम लोग भी निश्चित रूप से जाओगे।"

❖ (क्रमशः) ❖

१. एक भक्त ने एक दिन 'उद्बोधन' भवन में माँ को प्रणाम करते समय कहा कि उनकी पत्नी मंत्र भूल गयी है। परन्तु उनको फिर कलकत्ते लाना भी उनके लिए बड़ा कष्टकर है। माँ ने इस पर कहा, "भूल गयी है, तो क्या हुआ? ठाकुर का स्मरण-मनन करने से ही होगा।"

२. एक बार उस समय पूजा न करने से माँ के मन में अच्छा नहीं लग रहा था। उन्होंने इस विषय में ठाकुर से पूछा। ठाकुर बोले, "यदि पूजा न करने से मन में कष्ट हो, तो करना, नहीं तो नहीं।"

जीने की कला (२)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी है। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही मे दो भागों मे उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। उक्त पुस्तक के प्रथम भाग के अनुवाद का प्रकाशन पूरा हो चुका है और अब प्रस्तुत है उसका दूसरा भाग। इस लेखमाला का सुललित अनुवाद किया है श्री रामकुमार गौड़ ने, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

नरक का द्वार

भीम सिंह ने बड़े सबेरे से ही दोपहर की चिलचिलाती धूप मे अपने खेत में काम किया और फिर एक सिंह के समान बुभुक्षु होकर अपनी पत्नी से पूछा, "भोजन तैयार है?" पत्नी ने थोड़ा उदासीन भाव से उत्तर दिया, "आधे घंटे ठहरो।" भीम सिंह ने चिल्लाकर कहा, "क्या?" और फिर अपने हाथ की गैंती से अपनी पत्नी के सिर पर तेज प्रहार किया। 'पत्नी ओह, मैं तो मर गयी!' कहते हुए चिल्ला पड़ी। और तत्क्षण मर गयी। फिर कभी उठ न सकी। क्रोध शान्त होने पर भीम सिंह ने अपने बर्बर कृत्य पर घोर पश्चाताप किया।

श्यामापद मुखर्जी नौकरी से त्यागपत्र देकर इसलिए घर लौट आये, क्योंकि उनके अधिकारी ने उन्हें कुछ कड़ी बातें सुना दी थीं। क्रोधावेश में श्यामापद ने कहा, "मैंने भी अपना त्यागपत्र उसके मुँह पर फेंक दिया। मैं किसी की परवाह नहीं करता।" क्रोध शान्त होने पर वे कई तरह से पश्चाताप करने लगे। वे चिन्तित थे कि उनकी पत्नी तथा बच्चों का भरण-पोषण अब कैसे होगा। उन्होंने खेदपूर्वक स्वीकार किया कि क्रोधावेश में उन्होंने एक भयानक कृत्य कर डाला था।

क्रोध के असंख्य अनर्थकारी परिणाम हैं। विश्व के समस्त महापुरुषों ने मनुष्य को क्रोध से खूब सजग रहने को कहा है। गीता में क्रोध को नरक के द्वारों में से एक बताया गया है। क्रोध का परिणाम है लड़ाई-झगड़े – जैसे को तैसा और हिंसा के बदले में हिंसा। महाभारत हमें सावधान करता है कि क्रोधी व्यक्ति का किया हुआ दुष्कर्म उसे विनाश-पथ पर ले जाता है।

क्या आपने क्रोध से उन्मत्त किसी व्यक्ति का विचित्र आचरण देखा है? यह आपको हास्यास्पद भी लग सकता है। मैं आपको बता दूँ कि मेरे एक परिचित क्रोधावेश में क्या करते हैं। चिढ़ाने या गुस्सा दिलानेवाले लोगों को उन्हें यह कहने की आदत है, "मैं तुम्हारा खून पी जाऊँगा।" वे अपने क्रोध को विभिन्न रूपों मे प्रकट किया करते थे – "मैं तुम्हारा खून पी जाऊँगा। मैं निश्चित रूप से तुम्हारा सिर तोड़ डालूँगा। मैं तुम्हें कतई नहीं छोड़ूँगा। भले ही मुझे फाँसी या निर्वासन की सजा हो जाय, परन्तु निश्चय ही तुम्हारा खून कर दूँगा।" आप यदि उन्हें शान्त करने का प्रयास करें, तो कभी कभी वे असम्बद्ध रीति से तुकबन्दी करते हुए कहते, "मैं आपकी बदमिजाजी पर पाँव रखता हूँ।" इन क्रोधियो मे ऐसे लोग भी होते हैं, जो अपने शत्रुओं को काटकर टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं, सर्वनाश कर डालते हैं, सब कुछ मटियामेट कर देते है। किसी का गला मरोड़ देते हैं। वे कटु तथा अश्लील शब्दो में ताने मारते हैं। ऐसे चिड़चिड़े लोगों के व्यवहार की कभी हँसी उड़ाने का भी प्रयास मत कीजिये। वे आप पर भी पिल पड़ेंगे। जब कोई अपने क्रोध को सीधे अभिव्यक्त नहीं कर पाता, तो प्राय: वह दूसरों से भिड़ जाता है। क्रोधित हो जाना एक खतरनाक आदत है। प्लूटार्क ने कहा था, "क्रोध तुम्हारे मन में प्रविष्ट होने के पूर्व ही तुम्हारे विवेक को छीन लेता है और उसके लौटने के सारे दरवाजे बन्द कर देता है। एक संस्कृत सुभाषित में कहा गया है, "श्रेष्ठ लोगों में क्रोध क्षण भर ही रहता है और उससे निम्नतर लोगों में दो घंटे तक रहता है, और भी निम्नतम लोगों में पूरे दिन भर रहता है, पर दुष्टों मे यह जीवन भर बना रहता है।" अत: क्रोध को हमें लम्बे समय तक बने रहने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

प्रसिद्ध अंग्रेज समालोचक डॉ. सैमुअल जॉनसन के जीवनीकार बॉसवेल का एक बार उनके किसी मित्र ने अपमान कर दिया। इस घटना से क्षुब्ध बॉसवेल ने डॉ. जॉनसन से शिकायत की। डॉ. जानसन ने उत्तर दिया, "सोचो कि एक वर्ष बाद यह अपमान कितना महत्त्वहीन हो जायेगा।" बॉसवेल ने इस सलाह पर विचार किया और इसका गूढ़ निहितार्थ को समझ गये। परवर्ती काल में उन्होंने लिखा, "मैंने इस सलाह पर अनेकों बार अमल किया और इसने हर बार मेरी स्नायुओं को राहत पहुँचाया है।"

अपनी परिव्रज्या-काल में एक बार स्वामी विवेकानन्द दो अंग्रेजो के साथ रेलगाड़ी के एक ही डिब्बे मे यात्रा कर रहे थे। उनकी वेशभूषा को देखकर दोनों अंग्रेजों ने उन्हें कोई अपढ़ भिखारी समझ लिया और अंग्रेजी भाषा में आपस में उनकी हँसी उड़ाने लगे। अगला स्टेशन आने पर स्टेशन मास्टर के साथ स्वामीजी को विशुद्ध अंग्रेजी में बातें करते देखकर दोनों अंग्रेज हैरान तथा लज्जित रह गये। उन दोनों ने स्वामीजी से पूछा कि उनके कटाक्षपूर्ण उपहासों का उन्होंने विरोध क्यों नहीं किया। स्वामीजी ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया, "मित्रो, मैं कोई जीवन में पहली बार मूर्खों से नहीं मिल रहा हूँ।"

इस घटना मे ध्यान देने की बात यह है कि उन मूर्खों द्वारा भड़काये जाने पर भी स्वामीजी शान्त ही रहे।

काटो नहीं, फुफकारो

एक बच्चे के हाथों से उसका खिलौना छीनने का प्रयास करो – वह अपनी नाराजगी व्यक्त करेगा। क्रोध तथा नाराजगी स्वभावगत है। क्रोध एक सहज प्रतिक्रिया है। जब कोई वस्तु या घटना हमारी नाराजगी या असन्तोष के भाव को भड़का देती है, तो हम क्रुद्ध हो जाते हैं। इस संसार में सब कुछ हमारी इच्छा के अनुसार नहीं हो सकता। अत: अपनी इच्छाओं का नियमन और अहंकार को घटाना ही बुद्धिमत्ता का कार्य है, क्योकि इसी से हमें अपने क्रोध को नियंत्रित करने में मदद मिलती है। कुछ लोगों में तो क्रोध आदत का रूप ही धारण कर लेता है। वे हर चीज पर – यहाँ तक कि जब कौवा काँव काँव करता है, या जब वे स्वयं अपना वस्त्र नहीं ढूँढ़ पाते, या थोड़ा शोरगुल होने पर, या चाय में थोड़ी चीनी कम हो जाने पर ही वे चिड़चिड़ा उठते हैं। "क्रोध में वह शेर बन जाता है" – ऐसी बातें सुनकर उनका सीना गर्व से फूल उठता है।

क्रोध तुम्हारे शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ देता है। क्रोध तुम्हें अपने आसपास के लोगों के साथ शत्रुता का मार्ग दिखाता है। तुम्हारा स्वभावगत चिड़चिड़ापन दूसरों के मन में तुम्हारे प्रति घृणा का मूल कारण बन जाता है। लोग तुम्हारी अनुपस्थिति में तुम्हारी खिल्ली उड़ाते हैं। तुम सबकी सहानुभूति खो बैठते हो। तुम दूसरों के लिये कष्ट और असुविधा के कारक बन जाते हो।

क्रोध के सम्बन्ध में तेरहवीं सदी के महान् दक्षिण भारतीय सुधारक सन्त बसवेश्वर के इन शब्दों को याद रखो, "जैसे घर में लगी हुई आग पहले घर को ही जलाती है, वैसे ही क्रोध की अग्नि पहले क्रुद्ध व्यक्ति को ही जलाती है और फिर अन्य लोगों को भी हानि पहुँचाती है।"

परन्तु क्या हम पूरी तौर से क्रोधहीन हो सकते हैं? एक बार एक भक्त ने भगवान श्रीरामकृष्ण से पूछा, "महाराज, यदि दुष्ट लोग हमें हानि पहुँचाने में तत्पर हो जायँ, तो भी क्या हमें कुछ प्रतिक्रिया न करके निष्क्रिय रहना चाहिए?" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "संसार में रहते हुए दुष्टों का सामना करने के लिये थोड़ी-बहुत कठोरता भी आवश्यक है, परन्तु किसी के प्रति बदला लेने के भाव से कुछ नहीं करना चाहिए।"

परन्तु क्रोध दिखाये बिना इस संसार में रह पाना कठिन है। समाज में दुष्ट लोग भी हैं, उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाय? श्रीरामकृष्ण ने सलाह दी कि दुष्टों के साथ थोड़ा क्रोध-प्रदर्शन आवश्यक है, पर घृणा हानिकारक है। इस बात को समझाने के लिये उन्होंने एक कथा बतायी –

"चरवाहों के कुछ बच्चे एक चरागाह में अपनी गायें चराया करते थे। वहीं एक विषधर सर्प भी रहता था। सर्प के डर से सभी लोग सजग रहते थे। एक दिन एक ब्रह्मचारी उस रास्ते से गुजर रहे थे। बच्चे दौड़कर उनके पास गये और बोले, 'महाराज, उधर से मत जाइए, वहाँ एक विषधर सर्प रहता है।' ब्रह्मचारी ने कहा, 'बेटा, मुझे उसका क्या डर है? मैं साँप का मंत्र जानता हूँ।' ऐसा कहते हुए वे चरागाह में उसी ओर आगे बढ़ते गये। ब्रह्मचारी को देखकर वह साँप फन फैलाकर तेजी से उनकी ओर आने लगा। साँप जब पास आ गया, तो उन्होंने मंत्रोच्चारण किया और साँप कीट के समान उनके चरणों में लोटने लगा। ब्रह्मचारी बोले, 'सुन, लोगों को काटकर तू उन्हें इतना कष्ट क्यों देता है? ले, मैं तुझे मंत्र देता हूँ। इसे जपेगा तो ईश्वर पर भक्ति होगी। तुझे ईश्वर के दर्शन होंगे, फिर यह हिंसावृत्ति न रह जायेगी। यह कहकर ब्रह्मचारीजी ने साँप को मंत्र दिया। मंत्र पाकर साँप ने गुरु को प्रणाम किया और पूछा, 'प्रभो, मैं क्या साधना करूँ?' गुरु ने कहा, 'इस मंत्र का जप कर और हिंसा छोड़ दे।' चलते समय ब्रह्मचारीजी फिर आने का वचन दे गये।

"इस प्रकार कुछ दिन बीत गये। चरवाहे बालकों ने देखा कि साँप अब काटता नहीं। ढेला मारने पर भी गुस्सा नहीं होता। केंचुए की तरह हो गया है। एक दिन चरवाहों ने उसके पास जाकर पूँछ पकड़कर उसे घुमाया और वहीं पटक दिया। साँप के मुँह से खून बह चला, वह बेहोश पड़ा रहा, हिल-डुल तक न सकता था। चरवाहों ने सोचा कि साँप मर गया और यह सोचकर वहाँ से चले गये।

"काफी रात हो जाने पर साँप होश में आया और धीरे धीरे अपने बिल के भीतर गया। उसकी देह चूर चूर हो गयी थी। उसमें हिलने तक की शक्ति नहीं रह गयी थी। बहुत दिनों के बाद जब चोट कुछ ठीक हुई, तब वह भोजन की खोज में बाहर निकला। मारे जाने के बाद से वह केवल रात को ही बाहर निकलता था। हिंसा करता ही न था। सिर्फ घास-फूस, फल-फूल खाकर रह जाता था।

"लगभग साल भर बाद ब्रह्मचारीजी फिर आये। आते ही वे साँप की खोज करने लगे। चरवाहों ने कहा, 'वह तो मर गया।' पर ब्रह्मचारी को इस पर विश्वास न हुआ। वे जानते थे कि जो मंत्र वे दे गये हैं, वह जब तक सिद्ध न होगा तब तक उसकी देह नहीं छूट सकती। इधर-उधर उसे ढूँढ़ते हुए वे अपने दिये हुए नाम से साँप को पुकारने लगे। गुरुदेव की आवाज सुनकर साँप बिल से निकल आया और बड़े भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम किया। ब्रह्मचारीजी ने पूछा, 'क्यों, कैसा है?' उसने कहा, 'जी! अच्छा हूँ।' ब्रह्मचारीजी ने पूछा, 'तो तू इतना दुबला क्यों हो गया?' साँप ने कहा, 'महाराज, जब से आप आज्ञा दे गये, तब से मैं हिंसा नहीं करता; फल-फूल, घास-पात खाकर पेट भर लेता हूँ, इसीलिये शायद दुबला हो गया हूँ।' सत्त्वगुण बढ़ जाने के कारण वह किसी पर क्रोध न कर सकता था, इसी से मार की बात भी वह भूल गया था।

"ब्रह्मचारीजी ने कहा, 'सिर्फ न खाने से ही किसी की यह दशा नही होती. कोई दूसरा कारण अवश्य होगा, तू अच्छी तरह सोच तो।' अब साँप को चरवाहों की मार याद आयी। वह बोला, 'हाँ महाराज, अब याद आयी, चरवाहों ने एक दिन मुझे पटक-पटककर मारा था। उन अज्ञानियों को तो मेरे मन की अवस्था मालूम थी नही। वे क्या जाने कि मैंने हिंसा करना छोड़ दिया है।' ब्रह्मचारीजी बोले, 'राम, राम, तू ऐसा मूर्ख है? अपनी रक्षा करना भी तू नही जानता? मैंने तो तुझे काटने को ही मना किया था न, फुफकारने से तुझे कब रोका था? फुफकार मारकर उन्हें भय क्यों नहीं दिखाया?' "

इस प्रकार आवश्यकतानुसार दुष्टों पर फुफकारना चाहिए, भय दिखाना चाहिए, ताकि वे कही हमारा अनिष्ट न कर बैठें, परन्तु उनका अनिष्ट नहीं करना चाहिए।

यमराज के मन में दया नहीं है

पन्द्रह साल का एक सुन्दर और बुद्धिमान बालक था। वह कुसंग से सर्वथा दूर रहा। पढ़ाई में वह कभी पीछे नही रहा। वह अपने माता-पिता का इकलौता तथा परम आज्ञाकारी पुत्र था। सद्गुणो के कारण मित्रगण भी उसे सम्मान की नजर से देखते थे। एक दिन वह अपने मित्रों के साथ कहीं बाहर गया। यात्रा के दौरान ही दल के नेता को सहसा ख्याल आया कि वह बालक कहीं दिख नहीं रहा है। सभी सोचने लगे कि वह कहाँ हो सकता है। उसकी खोज होने लगी। किसी को याद आया कि वह नदी में तैरने गया था और वहाँ से वापस नहीं लौटा। काफी तलाश के बाद उस बालक का शव ही मिल सका। उसके माता-पिता को सूचना दी गयी। पिता पर तो मानो वज्रपात ही हो गया। पुत्र के सद्गुणों का स्मरण करते हुए वे दुःख से बिल्कुल अभिभूत हो गये। माता शान्त दिख रही थी। ऐसा लगा कि वे मौन-भाव से दुःख को पचा रही हैं। अपने पुत्र को यात्रा पर ले जानेवाले लोगों को उन्होंने कोसा भी नहीं। इसके लिये उन्होंने किसी को दोषी भी नहीं माना। यहाँ तक कि वे अपने पति को ही सान्त्वना देने लगीं। आत्मसंयम के साथ उन्होंने रिश्तेदारों को फोन किया, पुलिस को सूचित किया, अपने पति के कार्यालय में भी सूचना भेजी और साथ ही उन्होंने पुत्र के शव को शव-दाह-गृह ले जाने का प्रबन्ध भी किया। जब लाश चिता पर रखी जाने लगी, केवल तभी वे दुःख को सहने में असमर्थ होकर विलाप करने लगी।

एक अन्य युवक इंजीनियरिंग का छात्र था। वह सर्वदा व्यंग-विनोद के द्वारा लोगों का मनोरंजन किया करता था। उसकी बचकाना हरकतों पर डाँटते हुए उसकी माँ ने उससे पूछा, "तुम इतना हँसते क्यों हो? तुमको क्या हो गया है?" उसने मुस्कुराकर उत्तर दिया, "कल्पना करो कि मैं कल ही मर जाऊँ और यमराज यदि मुझसे पूछें कि मैंने पृथ्वी पर क्या किया, तो कम-से-कम मैं यह तो कह सकूँगा कि मैंने लोगों को हँसाया।" अगले ही दिन वह बड़े विचित्र ढंग से शहर में साइकिल चलाते समय तेज गति से आती हुई एक ट्रक से कुचलकर मारा गया। यमराज के दूत किसी के प्रति भी दया नही दिखाते। कष्ट देना ही उनका खेल है।

श्री नायर त्रिवेन्द्रम विश्वविद्यालय में मलयालम भाषा के प्राध्यापक थे। वे संस्कृत के भी अच्छे जानकार थे। परन्तु वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। विवाह के कई वर्षों बाद उन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उनका वह पुत्र छह वर्ष की आयु में ही बीमार पड़ गया। अन्तिम साँस लेने के पूर्व उसने माँ से अपने पिता को पास बुला देने के लिए कहा। पिता के पास आने पर बालक ने तेज स्वर में एक प्रार्थना का पाठ किया, जिसे पिता ने पहले कभी नहीं सुना था। पन्द्रह मिनट तक प्रार्थना-पाठ करने के बाद बालक काल-कवलित हो गया। श्री नायर तो स्तब्ध रह गये, उन्हें बड़ा धक्का लगा। यह घटना उनके जीवन में युगान्तकारी साबित हुई। मृत्यु ने उन्हें एक पाठ पढ़ा दिया। वे ईश्वर मे विश्वास करने लगे।

मृत्यु बिना किसी चेतावनी के चोट करती है। उस क्षण-विशेष में मनुष्य स्वयं को बिल्कुल असहाय महसूस करता है। जब पलक झपकते ही जीवन की सभी आशाएँ ध्वस्त हो जाती हैं, तो वज्रकठोर हृदय भी काँप उठता है। आज का जीवित व्यक्ति ही कल धूल में परिणत हो जाता है। इससे सर्वाधिक साहसी हृदय भी टूट जाता है। प्रियजन भी उस मृत देह को ऐसे त्याग देते हैं मानो वह काष्ठ या पत्थर का हो।

दुःख और मृत्यु

यह मृत्यु है क्या? क्या यह एक भयंकर घटना नहीं है? हमारे ऋषिगण 'हाँ' भी कहते हैं और 'नहीं' भी।

वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर बताते हैं कि अज्ञानी लोगों के लिये मृत्यु भयंकर है, पर ज्ञानियों के लिये नहीं। मृत्यु जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि बुद्धिमान और शिक्षित लोग भी इसके बारे में नहीं सोचते। मृत्यु के बारे में हमारा ज्ञान कितना स्वल्प और सीमित है। इसके बावजूद हम बुद्धिमान और प्रबुद्ध होने का दावा करते रहते हैं।

मृत्यु तथा परलोक के रहस्य को सुलझाने का दावा करने वाले पुरोहित तथा धार्मिक लोग कहते हैं, "अपने चढ़ावों तथा उपहारों के द्वारा स्वर्ग में अपनी जगह सुरक्षित करा लो और भविष्य के बारे में आश्वस्त हो जाओ।" पर वे इस गूढ़ विषय पर चिन्तन-मनन करने में लोगों को प्रोत्साहित नहीं करते।

मनुष्य अपने चारों ओर लोगों को काल-कवलित होते तथा सगे-सम्बन्धियो को यह धाम छोड़कर जाते हुए देखकर स्तब्ध

रह जाता है। क्षण भर के लिये उसे शोक भी होता है। इसके बाद वह शायद स्वयं को सान्त्वना देते हुए कहता है, "आगे या पीछे, सबको एक-न-एक दिन तो मरना ही होगा।" परन्तु "मृत्यु क्या है? और उसके परे क्या है?" – यह प्रश्न वह स्वयं से पूछने में प्राय: कतराया करता है। निकट के सम्बन्धियो की मृत्यु हो जाने पर वह सचमुच ही स्तब्ध रह जाता है। इस मृत्यु के फलस्वरूप वह तीव्र व्यथा का अनुभव करता है और इस वियागजनित असहायता तथा निराशा का अनुभव करते हुए आँसुओं की झड़ी लगा देता है। परन्तु कुछ ही दिनों बाद उसका दु:ख विस्मृत हो जाता है। वह फिर से अपनी दिनचर्या में डूब जाता है। और जब उसकी अपनी मृत्यु सिर पर आती है, तो वह अतीव पीड़ा तथा भय के साथ बिना किसी तैयारी के ही चल देता है। अधिकांश लोग कीड़ों-मकोड़ों की भाँति मर जाते हैं। वैसे कुछ लोग कहते हैं, "मृत्यु एक प्राकृतिक घटना है, अत: आने पर हमें उसका सामना करना चाहिए।" मृत्यु के बारे में हमारे दृष्टिकोण का सारांश बताते हुए कुबलर रॉस कहते हैं, "यह एक ऐसा विषय है, जिससे हमारा यौन-पूजक तथा विकास-प्रेरित समाज कन्नी काटता रहता है।" कभी कभी कोई खास मौत हमें मृत्यु के स्वरूप की अस्थायी झलक प्रदान करती हैं। वह व्यक्ति को अपरिहार्य का सामना करने का साहस भी प्रदान कर सकती हैं। ये वास्तविक घटनाएँ तथा अनुभव हममें साहस का भाव जाग्रत करने में सहायक होती हैं। परन्तु मनुष्य जब तक मृत्यु के तत्त्व को नहीं समझता, तब तक वह भयभीत ही बना रहता है।

एक दम्पति के एक सात वर्ष का पुत्र था। थोड़े ही दिनों की बीमारी से उसका जीवन-दीप बुझ गया। उस शोक से राहत पाने के निमित्त वे दक्षिण चले गये। वहाँ आजीविका के लिए उन्होंने कोई काम ढूँढ़ लिया। परन्तु माँ अपने दिवंगत पुत्र को भुला नहीं सकी। वह सोचती, "भगवान ने आखिर क्यों मेरे पुत्र को छीन लिया?" सान्त्वना की कोई भी वाणी उसके दु:ख का लाघव करने में सहायक नहीं हो सकी। वह अपने पुत्र के शोक से अतिशय अभिभूत थी। उसकी मन:स्थिति ऐसी थी कि उसके सामने सांत्वना बिल्कुल अप्रभावी थी और तर्क-वितर्क का तो कोई सवाल ही नहीं था। एक युवा पुत्र को खोनेवाला व्यक्ति यह कहकर स्वयं को दिलासा दे सकता है, "केवल मैंने ही तो अपना पुत्र नहीं खोया है। इस संसार में पुत्र-शोक से संतप्त और भी तो अनेक लोग हैं।" वस्तुत: यह मृत्यु के साथ एक व्यावहारिक सामंजस्य तथा अपरिहार्य के साथ समझौता कर लेना है। केवल मृत्यु के सच्चे स्वरूप को समझ लेनेवाला व्यक्ति ही ऐसी परिस्थितियों में प्रशान्त तथा साहसी बना रह सकता है।

❖ (क्रमश:) ❖

भगिनी निवेदिता के प्रति

जितेन्द्र कुमार तिवारी

भारत जननी की सेवा में अर्पित जीवन सारा।
धन्य विदेशी बहन, धन्य वह पावन प्रेम तुम्हारा।।

ब्रिटिश नागरिक लन्दनवासी,
मार्गरेट स्नेह की प्यासी।
बनी विवेकानन्द-सुपुत्री,
रही घूमती मथुरा-काशी।।
मिला सारदा-माँ के चरणों का था तुम्हें सहारा।
धन्य विदेशी बहन, धन्य वह पावन प्रेम तुम्हारा।।

देवी जब भारत में आयी,
भगिनी निवेदिता कहलायी;
स्वामीजी के श्रीचरणों में
अपना जीवन-सुमन चढ़ायी।
और बहायी मानवता की पावन गंगाधारा;
धन्य विदेशी बहन, धन्य वह पावन प्रेम तुम्हारा।।

महिलाओं का दर्द मिटाया,
सुख में, दुख में साथ निभाया।
और बच्चियों की शिक्षा में,
अपना सारा समय लगाया।।
उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम, देखा भारत सारा।
धन्य विदेशी बहन, धन्य वह पावन प्रेम तुम्हारा।।

स्वामीजी का काम निराला,
ब्रह्मचर्य के व्रत में ढाला।
भारतीय जन की सेवा में,
अपना तन-मन-धन दे डाला।।
सेवा की उदात्त भावना से निज स्वारथ हारा।
धन्य विदेशी बहन, धन्य वह पावन प्रेम तुम्हारा।।

जब तक नभ में चाँद-सितारे,
तुमको निज मस्तक पर धारे;
तब तक परम कृतज्ञ हृदय से,
पास रहेंगे सदा तुम्हारे।
याद करेगा भारतवासी, युग युग त्याग तुम्हारा।
धन्य विदेशी बहन, धन्य वह पावन प्रेम तुम्हारा।।

ईसप की नीति-कथाएँ (२२)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

भेड़िया और लोमड़ी

एक बार भेड़ियों के समाज में एक बहुत ही बड़ा तथा बलवान भेड़िया पैदा हुआ। वह आकार, बल तथा तेजी में अन्य सभी भेड़िया से बढ़-चढ़कर था, अत: सबने मिलकर उसे 'शेर' के नाम से सम्बोधित करने का निर्णय लिया। भेड़िये ने सोचा कि उसके समाज ने उसके गुणों को देखकर ही उसे यह नाम दिया है, अत: वह अपने लोगों को छोड़कर सर्वदा सिंहों के साथ ही रहने लगा। यह देखकर एक बूढ़ी धूर्त लोमड़ी ने कहा, "अपने अहंकार तथा गर्व के द्वारा तुमने स्वयं को हास्यास्पद बना लिया है, क्योंकि यद्यपि तुम भेड़ियों के बीच अवश्य ही सिंह लगते हो, परन्तु सिंहों के बीच तुम निश्चित रूप से एक भेड़िये ही प्रतीत होते हो।"

लोगों की बातों में आकर अपने को तीसमार खाँ नहीं समझ लेना चाहिए।

अखरोट का वृक्ष

सड़क के किनारे खड़े एक अखरोट के वृक्ष पर बहुतायत से फल लगे हुए थे। उन फलों को प्राप्त करने के लिए वहाँ से गुजरने वाले राहगीर पत्थरों तथा डण्डों की सहायता से वृक्ष की डालियाँ तोड़ डालते थे। अखरोट के वृक्ष ने इस पर खेद व्यक्त करते हुए कहा, "धिक्कार है मुझे, जो मैं तो इन लोगों को अपने मीठे फलों के द्वारा आनन्द प्रदान करता हूँ और ये लोग मुझे इसका कैसा दु:खद प्रतिदान देते हैं।"

दूसरों को सुख प्रदान करते समय प्रतिदान में सुख की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यही कर्मयोग है।

मच्छर और सिंह

एक मच्छर ने एक सिंह के पास जाकर कहा, "मैं तुमसे जरा भी नहीं डरता और तुम मुझसे बलवान भी तो नहीं हो। क्योंकि तुम्हारा बल किसमें है? तुम तो बस अपने नाखूनों से खरोंच सकते हो और अपने दाँतों से काट सकते हो, जैसा कि महिलाएँ अपनी लड़ाई में किया करती हैं। मैं एक बार फिर कहता हूँ कि मैं तुमसे अधिक बलवान हूँ; और यदि तुम्हें इसमें कोई सन्देह हो, तो आओ हम लड़कर देख लेते हैं कि कौन जीतता है।" इस प्रकार चुनौती देने के बाद मच्छर सिंह पर पिल पड़ा और उसके नथुनों तथा चेहरे के केशरहित स्थानों पर काटने लगा। उसे मसल डालने की कोशिश में सिंह ने अपने पंजों से स्वयं को ही लहूलुहान कर डाला। इस प्रकार मच्छर की सिंह पर विजय हो गयी। जीत की खुशी में वह गाता हुआ उड़ गया। थोड़ी देर बाद ही वह मच्छर एक मकड़ी के जाले में जा फँसा और उसका शिकार हो गया। अब वह अत्यन्त खेदपूर्वक अपने भाग्य को कोसते हुए कहने लगा, "मुझे धिक्कार है कि विशालतम जीवों के साथ लड़कर जीत जाने के बावजूद मैं इस छोटी-सी मकड़ी के हाथों मारा जा रहा हूँ।"

स्थान, काल और पात्र के अनुसार व्यक्ति बलवान या दुर्बल हो जाता है।

बन्दर और डाल्फिन मछली

लम्बी समुद्री यात्रा पर निकले जहाज के एक नाविक ने मार्ग में अपने मनोरंजन हेतु साथ में एक बन्दर ले लिया था। यूनान के बन्दरगाह से जहाज के रवाना होने के बाद ही समुद्र में एक भयंकर तूफान उठा, जिसके फलस्वरूप जहाज डूबने लगा। अपनी जान बचाने के लिए नाविक, बन्दर तथा जहाज के सारे कर्मचारी पानी में तैरने लगे। एक डाल्फिन मछली ने बन्दर को लहरों से संघर्ष करते देखा। डाल्फिन स्वभाव से ही मनुष्य की मित्र हुआ करती है। बन्दर को आदमी समझकर वह उसकी सहायता करने निकट आयी और उसे अपनी पीठ पर बैठा लिया और किनारे की ओर तैरने लगी। एथेंस के पास पहुँच जाने पर समुद्रतट दिखाई देने लगा, तो उसने बन्दर से पूछा कि क्या वह एथेंस का निवासी है। बन्दर ने हामी भरी और बताया कि वह उस नगर के एक सुप्रसिद्ध वंश में पैदा हुआ है। तब डाल्फिन ने पूछा कि क्या वह पाइर्युस को जानता है, जो कि एथेंस का प्रसिद्ध बन्दरगाह है। बन्दर ने सोचा कि यह किसी व्यक्ति का नाम है, उसने उत्तर दिया कि वह उसे बहुत अच्छी तरह जानता है और वह तो एक घनिष्ठ मित्र ही है। डाल्फिन समझ गयी कि यह बन्दर उसे बुद्धू बना रहा है और नाराज होकर उसने एक डुबकी लगाया और उसे पानी में डुबा दिया।

छल-कपट और चालाकी हमेशा काम नहीं आते।

कौआ और कबूतर

कुछ कबूतर एक बाड़े में पाले गये थे। उनके खाने-पीने की अच्छी व्यवस्था देखकर एक कौए के मुख में पानी आ गया। उसने अपने शरीर को सफेद रंग में रँगा और उन्हीं में शामिल होकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगा। जब तक वह चुप रहा, तब तक कबूतरों का उसकी ओर ध्यान नहीं गया और वे उसे भी अपने में ही एक समझते रहे। परन्तु दुर्भाग्यवश

एक दिन कौआ के मुख से असावधानीवश 'काँव' 'काँव' की ध्वनि निकल पड़ी। फिर क्या था, कबूतरों ने उसका सच्चा चरित्र पहचान लिया और अपने चोचों से मार-मारकर उसे अपने बाड़े से बाहर निकाल दिया। कबूतरों के भोजन में हिस्सा बँटाने में असफल होकर कौआ फिर अपने समाज में लौट आया। परन्तु सफेद रंग में रँगा होने के कारण कौए भी उसे पहचान नहीं सके और उसे अपने बीच से खदेड़ दिया। इस प्रकार वह कौआ न घर का हुआ न घाट का।

नकली रूप या वेशभूषा धारण करके लोगों को अधिक दिन धोखे में नहीं रखा जा सकता।

मेमना और भेड़िया

एक मेमना मैदान से घास चरकर अकेला ही वापस लौट रहा था। उसे देखकर एक भेड़िये के मुख में पानी भर आया और वह मेमने का पीछा करने लगा। मेमने ने देखा कि अब मेरी जान बचने की उम्मीद बिल्कुल भी नहीं है, तो वह पीछे की ओर मुड़ा और कहने लगा, "मित्र भेड़िये, मैं जानता हूँ कि आज मैं पूरी तौर से तुम्हारे हाथों में पड़ गया हूँ, परन्तु मरने के पूर्व मेरी एक विशेष इच्छा है – मैं तुम्हारे गीत की धुन पर थोड़ा नाचना चाहता हूँ। भेड़िया राजी हो गया। जब वह जोर की आवाज में गाने लगा और मेमना नाचने लगा, तो कुछ कुत्ते भेड़िये की आवाज सुनकर दौड़ते हुए आये और उसका पीछा करने लगे। अपना शिकार हाथ से निकलता देख भेड़िया मेमने की ओर मुड़ा और बोला, "मैंने बहुत बड़ी गल्ती की है। मैं एक शिकारी हूँ और तुम्हें खुश करने के लिए मुझे गायक बनने की कोई जरूरत नहीं थी।

अपने कर्तव्य के पालन में देरी नहीं करनी चाहिए।

लोमड़ी और बन्दर

एक लोमड़ी और एक बन्दर एक साथ एक ही सड़क पर यात्रा कर रहे थे। वे दोनों एक कब्रिस्तान के पास से होकर गुजरे। उस कब्रिस्तान में बहुत से स्मारक बने हुए थे। बन्दर ने कहा कि ये सारे स्मारक मेरे पूर्वजों के सम्मान में निर्मित हुए हैं, जो अपने समय के स्वाधीन तथा प्रसिद्ध नागरिक थे।" लोमड़ी बोली, "तुमने गप्पें मारने के लिए बड़ा ही उपयुक्त विषय चुना है, क्योंकि यह तो निश्चित है कि तुम्हारा कोई भी पूर्वज तुम्हारी बातों को नकारने नहीं आ सकेगा।"

झूठी बातों की कलई प्राय: अपने आप ही खुल जाती है।

गुणों का उपहार

एक दिन कड़ाके की ठण्ड से त्रस्त होकर एक घोड़े, एक बैल तथा एक कुत्ते ने मनुष्य से आश्रय तथा सुरक्षा के लिए प्रार्थना की। मनुष्य ने उनका बड़े गर्मजोशी से स्वागत किया और उनके लिए आग जला दी। उसने घोड़े के सामने घास तथा चने, बैल के सामने खली तथा भूसा और कुत्ते के सामने मांस तथा रोटियाँ रख दीं। तीनों प्राणियों ने जी-भर भोजन करने के बाद मनुष्य के प्रति बड़ी कृतज्ञता का बोध किया और उसे अपनी साध्य के अनुसार कुछ देने का निश्चय किया। तीनों ने मनुष्य की आयु का बँटवारा करके उसके एक एक भाग को अपना अपना विशेष गुण प्रदान किया। घोड़े ने उसकी आयु के प्रारम्भिक वर्षों को चुना और उसी को अपने गुण दे दिये; इसी कारण मनुष्य अपनी तरुणाई में उतावला तथा मनमौजी होता है और हटपूर्वक अपने ही मत को पकड़े रहता है। उसके बाद की आयु को बैल ने ग्रहण कर लिया और यही कारण है कि मनुष्य अपनी प्रौढ़ावस्था में कठोर परिश्रम करके धन-सम्पदा एकत्र करना चाहता है और उसी की देखरेख में लगा रहता है। आयु का अन्तिम भाग कुत्ते को मिला, इसीलिए वृद्ध व्यक्ति प्राय: चिड़चिड़े, तुनकमिजाज, असन्तुष्ट और स्वार्थी होते हैं। वे केवल अपने घर के लोगों को ही सहन करते हैं और किसी भी अपरिचित तथा उन सभी के लिए उसके मन में अरुचि होती है, जो सुविधा या जरूरत में उपयोगी नहीं होते।

भेड़िया और गड़ेरिया

एक भेड़िया बहुत दिनों तक भेड़ों की एक रेवड़ का पीछा करता रहा, परन्तु उसने उनमें से किसी को चोट नहीं पहुँचायी। चरवाहा पहले तो उसकी ओर से एक शत्रु के समान सावधान रहता था और बड़ी गम्भीरतापूर्वक उसकी गतिविधियों पर ध्यान रखता था। परन्तु जब दिन-पर-दिन साथ रहकर भी भेड़िये ने किसी भेड़ को पकड़ने का जरा भी प्रयास नहीं किया, तो चरवाहा उसे अपने शत्रु के स्थान पर अपने भेड़ों का संरक्षक ही समझने लगा।

एक दिन ऐसा भी अवसर आया, जब उसे नगर जाना आवश्यक हो गया, तो उसने अपने रेवड़ को पूरी तौर से भेड़िये के ही संरक्षण में छोड़ दिया। अब सुनहरा मौका पाकर भेड़िये ने झुण्ड के अधिकांश भेड़ों को मार डाला। काम समाप्त हो जाने के बाद जब चरवाहा लौटा, तो वह अपने रेवड़ की बरबादी को देखकर आहें भरते हुए बोला, "मुझे ठीक ही सजा मिली है; मैंने अपनी भेड़ों को भला क्यों एक भेड़िये के संरक्षण में छोड़ा?"

अपनी प्रिय तथा मूल्यवान वस्तुओं को खूब सोच-समझकर ही किसी के संरक्षण में देना उचित है।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (१०)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के महाराष्ट्र-भ्रमण का विस्तार से अवलोकन करते हुए पिछले अंक में हमने देखा कि स्वामीजी बम्बई से लोकमान्य तिलक के साथ पूना गये और वहाँ कुछ दिन बिताकर महाबलेश्वर की दुबारा यात्रा की। उसके बाद का विवरण इस प्रकार है। - सं.)

कोल्हापुर का प्रवास

महाबलेश्वर के बाद स्वामीजी से हमारी भेंट कोल्हापुर में होती है। वे लगभग १० अक्तूबर को वहाँ पहुँचे। कोल्हापुर की महारानी के नाम वे भावनगर के महाराजा (तख़्तसिह जी) का परिचय-पत्र[१] ले गये थे। छत्रपति शिवाजी के कनिष्ठ पुत्र राजाराम महाराज के वंशज होने के कारण कोल्हापुर के राजा अपने नाम के साथ छत्रपति की उपाधि लगाते थे।

यह नगर पुणे से २३२ कि. मी. दूर पंचगंगा नदी के दक्षिणी तट पर बसा हुआ है। प्राचीन काल में कोल्हापुर करवीर के नाम से प्रसिद्ध एक महत्त्वपूर्ण तीर्थक्षेत्र तथा व्यापारिक केन्द्र था, जहाँ आद्याशक्ति महालक्ष्मी का शक्तिपीठ है। वहाँ अन्य देवी-देवताओं के भी दर्जनों भव्य मन्दिर हैं। स्कन्द पुराण में इस 'काराष्ट्र' को काशी से भी अधिक पवित्र तथा दर्शन मात्र से पापनाशक बताया गया है। इसके निकट ही स्थित ब्रह्मपुरी नामक स्थान में हुए पुरातात्त्विक उत्खनन में लगभग २००० वर्ष पुरानी बस्तियों तथा एक बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले हैं। महाभारत, विभिन्न पुराणों तथा बृहत् संहिता में भी इस तीर्थ का उल्लेख मिलता है।

कोल्हापुर के 'दैनिक पुढारी' के १० नवम्बर १९९२ के अंक में श्री बापूसाहेब राऊत द्वारा मराठी में लिखित 'स्वामी विवेकानंदांची करवीर भेट' लेख से स्वामीजी के इस प्रवास पर कुछ नया आलोक मिलता है। स्वामीजी के वहाँ बिताये गये तीन-चार दिनों के बारे में लेखक ने काफी शोध के बाद जो महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं, उनका सार-संक्षेप तथा कुछ अन्य सूचनाएँ निम्नलिखित है -

सम्पूर्ण महाराष्ट्र ही शिवाजी महाराज के कर्तृत्व से पुनीत हुआ है, तथापि कोल्हापुर नगर छत्रपति-कुल की राजधानी है। वहाँ साक्षात् शिवाजी के ही वंशज राज्य करते रहे हैं। कुछ वर्षों पूर्व दुर्भाग्यवश वहाँ एक बड़ी दु:खद घटना हो गयी थी। धूर्त अंग्रेज सरकार ने कोल्हापुर के तरुण स्वाभिमानी राजा अर्थात् चौथे शिवाजी की अहमदनगर के किले में नृशंस हत्या करा दी थी। उनकी विधवा पत्नी नि:सन्तान थीं। इस कारण उन्होंने १८८४ ई. में कागल के जागीरदार श्रीमान् जयसिहराव घाटगे के ज्येष्ठ पुत्र यशवन्तराव को गोद लेकर छत्रपति वंश का दीप पुन: प्रज्वलित किया। उनके ये दत्तक पुत्र ही आगे चलकर राजर्षि छत्रपति शाहूजी महाराज के रूप में प्रसिद्ध हुए। जिस समय स्वामीजी कोल्हापुर आये, उस समय राजकुमार शाहू महाराज भावनगर में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।

स्वामीजी के कोल्हापुर आगमन के कुछ दिनों पूर्व वहाँ की महारानी आनन्दी बाई स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण विश्राम करने के निमित्त पन्हालगढ़ गयी हुई थीं। राजभवन में आकर स्वामीजी ने परिचय-पत्र महारानी के निजी सचिव रावसाहेब लक्ष्मणराव गोलवलकर को दिया। उसे पढ़ने के बाद स्वामीजी का हार्दिक स्वागत किया। उनका तेजस्वी व्यक्तित्व देखकर उपस्थित सभी लोग अभिभूत हो गये। रावसाहेब गोलवलकर ने उनके ठहरने की व्यवस्था नगर की भीड़भाड़ से दूर खासबाग में करवा दी।

पन्हालगढ़ से महारानी के लौटने पर उनके निजी सचिव ने उन्हें स्वामीजी के आगमन की सूचना दी और भावनगर के महाराज द्वारा प्रदत्त परिचय-पत्र भी पढ़कर सुनाया। रानी साहेब स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति की थीं और साधु-सन्तों की सेवा तो उनके कुल की परम्परा ही थी। भावनगर के महाराजा द्वारा किये गये स्वामीजी के गौरवगान को और अपने निजी सचिव तथा अन्य दरबारियों के मुख से उनके असाधारण व्यक्तित्व के बारे में सुनकर महारानीजी का मन भी उनके दर्शन हेतु उत्सुक हो उठा। स्वामीजी को आमंत्रित करके राजमहल में लाया गया। उनका देदीप्यमान रूप देखकर रानी साहेब का अन्त:करण भक्तिभाव से अभिभूत हो उठा। उन्होंने राजघराने की परम्परा के अनुसार स्वामीजी की पादपूजा की। चाँदी की एक बड़ी थाल में सजाकर हीरे-जवाहरातों की भेंट उन्हें अर्पित की गयी, परन्तु स्वामीजी ने कहा कि वे एक विरक्त संन्यासी हैं, अत: उन्हें इन मूल्यवान वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार स्वामीजी ने अत्यन्त विनयपूर्वक उन्हें स्वीकार करने में अपनी असमर्थता दिखलाई। हरिपद मित्र लिखते हैं, "कोल्हापुर की रानी ने स्वामीजी से अनुरोध किया था कि वे कुछ ग्रहण करें; परन्तु स्वामीजी राजी नही हुए। अन्त में रानी ने उनके लिए दो गेरुए वस्त्र भेजे। स्वामीजी ने उन्हें ग्रहण कर लिया और पुराने वस्त्र वहीं छोड़ते हुए बोले - संन्यासियों के पास जितना कम बोझ हो, उतना ही अच्छा।"

इसके बाद उन्होंने छत्रपति-कुल की देवी भवानी माता का दर्शन किया। तदुपरान्त करवीर-निवासिनी महालक्ष्मी देवी के मन्दिर में गये। वहाँ गर्भगृह में खड़े होकर भावविभोर नेत्रों से देवी के चिन्मय रूप का अवलोकन किया। उन्होंने देखा कि

१. ऐसा स्वामीजी की जीवनियों में लिखा है, परन्तु आगे वीजापुरकर के संस्मरणों में हम देखेंगे कि वे 'महादेव गोविन्द' का परिचय-पत्र लाए थे। सम्भव है दोनों ही पत्र उनके पास रहे हों।

जो भवतारिणी काली देवी दक्षिणेश्वर में खड़ी अपने भक्तों को वर-अभय प्रदान कर रही हैं, वे ही यहाँ आद्याशक्ति महालक्ष्मी के रूप में भुक्ति-मुक्ति प्रदान कर रही हैं। "माँ, मैं तुम्हारी शरण में हूँ, तुम्हारी शरण में हूँ" – कहते हुए उन्होंने देवी के समक्ष साष्टांग प्रणाम किया और अपने डेरे पर लौट आये।

जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं कि कोल्हापुर के राजकुमार जो उन दिनों भावनगर में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, बाद में छत्रपति शाहू महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए, अपने राज्य में अनेक सुधारवादी कार्यों का सूत्रपात किया। साहू महाराज की मराठी में अनेक जीवनियाँ उपलब्ध हैं, परन्तु उनमें कहीं भी स्वामीजी के साथ उनके सम्पर्क का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु परवर्ती काल में उनके द्वारा जो अनेक लोकोपयोगी कार्य हुए उनके पीछे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्भव है स्वामीजी की प्रेरणा ही कार्यकर हुई हो। अस्तु।

* * *

स्वामीजी के कोल्हापुर निवास का किंचित् विवरण वहाँ से प्रकाशित होनेवाले मराठी 'ग्रन्थमाला' के सुविख्यात सम्पादक श्री विष्णु गोविन्द वीजापुरकर ने अपनी पत्रिका के जुलाई-अगस्त १९०२ के अंक में 'ब्रह्मीभूत विवेकानन्द' शीर्षक से दिया है। उन संस्मरण को प्रस्तुत करने के पूर्व हम उसके लेखक का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं, जो इस प्रकार है –

महाराष्ट्र में राष्ट्रीय शिक्षण के अग्रदूत, महान देशभक्त तथा सुप्रसिद्ध विद्वान् प्राध्यापक वीजापुरकर का जन्म १९६३ ई. में हुआ था। कोल्हापुर के राजाराम हाईस्कूल और बाद में पूना के डक्कन कालेज में शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने १८८७ ई. में बी.ए और तदन्तर एम.ए. की डिग्री प्राप्त की। डक्कन कॉलेज तथा अहमदाबाद कॉलेज में फेलो के रूप में कार्य करने के उपरान्त कोल्हापुर के राजाराम कालेज में उनकी संस्कृत तथा अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हुई। यहीं से उन्होंने 'ग्रन्थमाला' नामक मराठी मासिक प्रारम्भ किया और बाद में 'समर्थ' साप्ताहिक शुरू कर उसमें कोल्हापुर राज्य की घटनाओं पर टीकात्मक लेख लिखने लगे। इसके फलस्वरूप १९०६ ई. में उन्हें प्राध्यापक की नौकरी छोड़नी पड़ी। इसके उपरान्त उन्होंने कोल्हापुर में 'समर्थ विद्यालय' नाम से एक राष्ट्रीय शिक्षा संस्था शुरू की और फिर तलेगाँव में रहने लगे। इन्हीं दिनों उनके द्वारा परिचालित 'विश्ववृत' मासिक में प्रकाशित पं. सातवलेकर द्वारा लिखित 'वैदिक धर्म की तेजस्विता' शीर्षक लेख के कारण सम्पादक के रूप में १९०८ ई. में उन्हें तीन वर्षों के साधारण कैद की सजा मिली। उनके कारावास के दिनों में पुराना 'समर्थ विद्यालय' बन्द हो जाने के कारण १९१८ ई. में उन्होंने तलेगाँव में 'नवीन समर्थ विद्यालय' की स्थापना की।

प्राध्यापक वीजापुरकर ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें न्यायमूर्ति रानाडे की Rise of The Maratha Power' (मराठा सत्ता का उत्कर्ष) का मराठी अनुवाद प्रमुख है। सर महादेव चौबल ने उनके बारे में लिखा है, "प्रो. वीजापुरकर की धर्मनिष्ठा तथा सात्त्विक मूर्ति नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष उपस्थित रहते मैं अधिक क्या लिखूँ। सादा जीवन तथा उच्च विचार का ऐसा उदाहरण शायद ही अन्यत्र कहीं देखने को मिले।" वीजापुरकर की स्वामीजी पर इतनी प्रगाढ़ निष्ठा थी कि उन्होंने स्वामीजी के ज्ञानयोग एवं अन्य विषयों पर अनेक व्याख्यान तथा उनके गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द के वेदान्त विषयक १५ व्याख्यान अनुवाद के रूप में पहले अपनी ग्रन्थमाला मासिक और बाद में अलग से पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किये थे। इस प्रकार परवर्ती काल में उन्होंने स्वामीजी की भावधारा के महाराष्ट्र में प्रचार-कार्य में महत्वपूर्ण योगदान किया था।

प्रा. वीजापुरकर के संस्मरण

स्वामीजी के बारे में वीजापुरकर के लिखे हुए संस्मरणों में हमें उनके कोल्हापुर प्रवास की एक मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी झाँकी प्राप्त होती है और साथ उनके राष्ट्रीय मूल्यांकन की दृष्टि से प्राध्यापक वीजापुरकर की संक्षिप्त टिप्पणियाँ तथा श्रद्धांजलि पढ़कर स्वामीजी के प्रति उनके सौहार्द की भावना मनश्चक्षुओं के सामने सजीव हो उठती है। उनकी स्मृतिकथा के महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं –

"श्री स्वामी विवेकानन्द ने ४० वर्ष की आयु के भीतर अपने इहलोक का सारा बाजार समाप्त किया। जो सारी वस्तुएँ हमारे पास नहीं थीं, वे हमें दे डालीं। यदि कोई महाकवि 'शंकर-दिग्विजय' के समान की 'विवेक-दिग्विजय' की रचना करे, तो वह भी वैसा ही मनोहर तथा शिक्षाप्रद हुए बिना नहीं रह सकता। यहाँ उनका संक्षिप्त चरित्र देना ज्यादा कठिन नहीं है। १८६३ ई. में उनका जन्म हुआ। उनके पिता वकील थे। २०-२१ वर्ष की आयु में उन्होंने बी.ए. किया। उन दिनों तर्कशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र पढ़ने के कारण उनका मन अनेक तत्त्ववेत्ताओं के विचारों से परिपूर्ण हो गया था। उनकी तीव्र एवं विशाल बुद्धि से भी किसी विषय का निर्णय नहीं हो सका था। इसी अवस्था में उन्हें गुरु के रूप में परमहंस रामकृष्ण मिले। इससे उनके जीवन को एक अलग दिशा मिली और गृहस्थाश्रम में न फँसकर उन्होंने सीधा संन्यास ले लिया। इसके पश्चात् उन्होंने आमरण अपना सारा समय तत्त्वोपदेश देने में लगाया। शिकागो-प्रदर्शनी के बाद से उनकी विशेष प्रसिद्धि हुई।

"शिकागो जाने के पूर्व उन्होंने हिन्दुस्तान का भ्रमण किया था। उस समय १८९२ ई. में हमारे अंचल में भी उनकी चरणधूलि पड़ी थी। उस समय हममें से प्रत्येक को ऐसा लगा

था कि (भविष्य में) वे एक नामी वक्ता होंगे। विषय का अच्छा ज्ञान होने के कारण वे ऐसे आवेगपूर्वक अपना मत प्रतिपादित करते थे कि लोगों का मन बरबस अभिभूत हो जाता था। हमारे राजारामीय परिषद में उन्हें बुलाया गया था, उस समय उनके साथ चर्चा में बीते एक-डेढ़ घण्टे मुझे आजन्म नहीं भूलेंगे। जब हमने सुना और पढ़ा कि उनके भाषण के दौरान हजारों श्रोता 'बभूवुः आलेख्य-समर्पिता इव' अर्थात् चित्र में रेखा के समान स्थिर दीख पड़ते थे, तब यदि हमें उन एक-डेढ़ घण्टे का अनुभव न होता, तो हम उसकी कल्पना तक नही कर पाते। प्रत्यक्ष प्रश्नोत्तर के समय हम लोगों ने जो भी इच्छा हुई उनसे पूछा; परन्तु उसका कुछ लिखकर नहीं रखा। सहज-सी, सबकी जानी हुई बात भी जब उनके मुख से बाहर निकलती, तो उसमें एक विलक्षण मोहकता रहती थी।

"हमारे यहाँ उन दिनों रावसाहब लक्ष्मणराव गोलवलकर निजी सचिव थे। सायंकाल भ्रमण के बाद लौटते समय जब मुझे पता चला कि उनके पास कोई अंग्रेजी बोलनेवाले भव्य संन्यासी आये हैं और वे महादेव गोविन्द का पत्र लेकर आये हैं, तो मैं भोजन के पूर्व ही सीधा खासबाग गया, जहाँ उनके ठहरने की व्यवस्था की गई थी। दूर से ही स्वामीजी महाराज की आवाज कानों में पड़ी। बाकी सभी आवाजें जानी-पहचानी थीं और जो नवीन तथा स्पष्ट आवाज दूर से ही सुनाई दी, वह उन्ही अर्थात् स्वामीजी की होगी, मन में ऐसी बात आते ही लगा कि मामला कुछ गम्भीर है। निकट पहुँचकर मैंने प्रणाम किया, परन्तु उन्होंने न तो 'नारायण' कहा और न आशीर्वाद ही दिया, उनके बोलने का प्रवाह जारी ही रहा। बीच बीच में लोग उनसे प्रश्न भी करते थे। बस पूछने भर की देर थी कि फटाफट उत्तर मिल जाते थे; शब्द चिनगारियों के समान उड़ रहे थे। दूसरे दिन उन्हें राजरामीय क्लब में आमंत्रित किया गया; और वहाँ भी ऐसा ही हुआ। सब लोगों का मिलाकर भाषण दस मिनट हुआ और बाकी पूरे समय स्वामीजी के व्याख्यान का प्रवाह चलता रहा। उनकी बातों में से एक वाक्य अब भी उसी आवाज के साथ हमारे कानों में गूँज रहा है – "My Religion is such that Buddhism is its rebel child and Christianity but a forfetched imitation." – अर्थात् मेरा धर्म ऐसा है कि बौद्ध धर्म इसका विद्रोही शिशु और ईसाई धर्म इसका भौंड़ा अनुकरण है।

"श्री विवेकानन्द के आन्दोलन से हिन्दुस्तान का विशेष रूप से क्या लाभ हुआ, इस पर विचार करना हमारी क्षमता के परे है। जब यह विचार सामने आता है कि राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव-जाति के एकीकरण हेतु उपयोगी तत्त्वज्ञान का प्रचार होने के फलस्वरूप हिन्दुस्तान का कुछ कल्याण हुआ है क्या? तब ऐसा लगता है कि विवेकानन्द नामक एक शक्ति परमेश्वर ने उत्पन्न की और पाश्चात्य राष्ट्रों की जागृति में उसका उपयोग हुआ। यह भी सिद्ध हुआ कि तुच्छ माने जानेवाले हिन्दुस्तान से भी महान् जागतिक कार्य होना सम्भव है। अन्य देवताओं के समान नारायण की भी कृपा इस देश पर अब भी बनी हुई है। अब भी यहाँ अपना अंश प्रकट करना उन्होंने बन्द नहीं किया है। न्यायमूर्ति रानाडे की दिशा अलग थी। उनका महत्त्व तथा उनकी उपयोगिता का क्षेत्र विस्तृत नहीं था। पर हिन्दुस्तान को उनसे अधिक लाभ हुआ। हमारे कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि विवेकानन्द के समान प्रचण्ड शक्ति का उपयोग हमारे अपने लिए होना चाहिए था और फिर यदि ऐसा हो सका तो 'पहले घर, फिर जग' – कल्याण की इसी नीति से राष्ट्र की उन्नति होती है। परन्तु जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं। साधुपुरुषों के कार्य का मूल्यांकन करना तथा उनकी कालमर्यादा निर्धारित करना हम जैसे साधारण लोगों का काम नहीं है। उसका संचालन भिन्न प्रकार से होता है और वह ऐसे नियति के हाथों में है, जिसे हमारा कल्याण अनन्तगुना अधिक समझता है।

"ऐसी बात नहीं कि केवल कर्म-आन्दोलन के लिए ही ऐसे संन्यासी की आवश्यकता हो। आज हिन्दुस्तान को राजकीय, औद्योगिक आदि कार्यों में भी ऐसे ही मनुष्यों की जरूरत है।"

उपरोक्त श्रद्धांजलि-लेख में हमने देखा कि श्री बीजापुरकर ने स्वामीजी को नारायण का अंश माना है तथा उनके भारत के प्रति अवदान को समझ पाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की है। इस लेख में ऐसा भी उल्लेख है कि स्वामीजी महादेव गोविन्द का परिचय-पत्र लाये थे। तो क्या उन्होंने न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे से भी परिचय-पत्र लिया था? हो सकता है; पूना में न्यायमूर्ति रानाडे के साथ उनके परिचय की एक सम्भावना का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं।

इसी काल का एक और छोटा सा तथ्य मिलता है। वहाँ के श्री सावला राम देसाई टाकुर के चरित्र-काव्य 'नवी सृष्टि नवी दृष्टि' से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी के कोल्हापुर प्रवास के दौरान वहाँ के किसी बैरिस्टर सेन ने स्वामीजी के प्रति आकृष्ट होकर उनसे मंत्रदीक्षा ली थी, परन्तु बैरिस्टर सेन के बारे में कोई विस्तृत जानकारी नहीं मिलती।

श्री चिन्तामन विनायक वैद्य

महाभारत के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा वक्ता श्री चि. वि. वैद्य (१८६१-१९३८) भी स्वामीजी के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आये थे। मराठी मासिक 'रामकृष्ण निकेतन' के फरवरी १९३१ (पृ. ३८) अंक में प्रकाशित एक समाचार में लिखा है –

"पूना की श्री विवेकानन्द सोसाइटी के तत्त्वावधान में स्वामी विवेकानन्द का उनहत्तरवाँ जन्मदिवस १५ फरवरी को पूना के नूतन मराठी विद्यालय के दीवानखाने में मनाया गया। ... उसमें मुख्य बात यह है कि रावबहादुर चिन्तामन

राव वैद्य स्वयं स्वामी विवेकानन्द से परिचित थे, अत: उन्होंने स्वामीजी के कार्य के विषय में अपने अनुभव से कुछ मनोरंजक बातें बताईं।"

श्री चिन्तामन विनायक वैद्य स्वामीजी के सम्पर्क में कब आये? उनके बीच केवल औपचारिक परिचय मात्र ही था या फिर आपस में वार्तालाप भी हुआ? इस सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। रावबहादुर वैद्य ने कुछ काल कोल्हापुर में सब-जज के रूप में कार्य किया था। सम्भव है उन्हीं दिनों वे स्वामीजी के सम्पर्क में आये हों।

बेलगाँव में श्री भाटे का आतिथ्य

कोल्हापुर से १५ या १६ अक्तूबर १८९२ ई. को विदा होकर स्वामीजी बेलगाँव पहुँचे। कोल्हापुर दरबार के निजी सचिव श्री लक्ष्मणराव गोलवलकर ने अपने मित्र बेलगाँव के सुप्रसिद्ध वकील श्री सदाशिव राव भाटे के नाम स्वामीजी के लिए एक परिचय-पत्र लिख दिया था, अत: उनके द्वार पर स्वामीजी का सप्रेम स्वागत हुआ। गृहस्वामी के पुत्र श्री गणेश सदाशिव भाटे (१८८०-१९२७) उस समय १२-१३ वर्ष की आयु के थे। अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के होने के कारण उन्होंने बाद में इंग्लैण्ड जाकर एडिन्बरा विश्वविद्यालय से एम.ए. किया और फिर काफी काल तक पटना विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रध्यापक रहे। १९२६ ई. में उन्होंने अपनी इस काल की स्मृतियों को लिपिबद्ध कर 'दि इंडियन सोशल रिफार्मर' पत्र में प्रकाशित कराया, जो आगे चलकर स्वामीजी के संस्मरणों की अंग्रेजी पुस्तक में संकलित हुईं।

प्राध्यापक भाटे के संस्मरणों के मुख्य अंश इस प्रकार हैं – "बेलगाँव में स्वामी विवेकानन्द को अपने अतिथि के रूप में पाने का मेरा दुर्लभ सौभाग्य हुआ था। ... वे कोल्हापुर से महाराजा के निजी सचिव श्री गोलवलकर का एक पत्र लेकर बेलगाँव आये। कोल्हापुर दरबार के नाम भावनगर दरबार का एक पत्र लेकर वे कोल्हापुर गये थे। मुझे याद है कि एक दिन सुबह लगभग छह बजे मेरे पिता के अन्तरंग मित्र श्री गोलवकर का पत्र लिये हुए वे हमारे घर आये। स्वामीजी देखने में विलक्षण थे और पहली दृष्टि में ही अन्य लोगों से कुछ अलग प्रतीत होते थे। परन्तु न तो मेरे पिता और न मेरे परिवार या छोटे से नगर का कोई अन्य व्यक्ति ही हमारे अतिथि के भीतर बाद में प्रगट होनेवाली उस महानता को देख सका था।

"स्वामीजी के निवास के पहले दिन से ही ऐसी कुछ छोटी-मोटी घटनाएँ हुईं, जिनके कारण हमें उनके बारे में अपनी धारणाएँ बदलनी पड़ीं। प्रथमत: तो यद्यपि वे संन्यासियों में प्रचलित रंग के ही वस्त्र पहने हुए थे, तथापि उनके वस्त्र संन्यासी-समाज से कुछ अलग ढंग के थे। वे एक बनियान पहनते थे। दण्ड के स्थान पर उनके पास घूमने के समय उपयोग में लाई जानेवाली एक लम्बी छड़ी थी। सामान के नाम पर उनके पास एक साधारण कमण्डलु, एक गीता तथा एक-दो अन्य पुस्तकें थीं। हम लोग ऐसे संन्यासी देखने के अभ्यस्त न थे, जो बातचीत के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करता हो, नंगे बदन रहने की जगह पर बनियान पहनता हो और जो बुद्धि की ऐसी व्यापकता तथा जानकारी की इतनी विविधता प्रकट करता हो, जो एक सांसारिक व्यक्ति के लिए भी एक बड़े गर्व की बात होती। वे हिन्दी में भी धाराप्रवाह बोलते थे, परन्तु हमारी मातृभाषा मराठी होने के कारण हमारे साथ हिन्दी की अपेक्षा प्राय: अंग्रेजी में वार्तालाप करना उन्हें कहीं अधिक सुविधाजनक लगता था।

"पहले ही दिन भोजन के बाद स्वामीजी ने पान-सुपारी के लिए अनुरोध किया। फिर उसी या अगले दिनों उन्होंने चबाने के लिये थोड़ी-सी तम्बाकू माँगी। सामान्यत: संन्यासी को ऐसी छोटी-मोटी सुविधाओं के परे गया हुआ माना जाता है, अत: उनके द्वारा ऐसी चीजों के लिए इच्छा व्यक्त करने पर हमारे मन में जिस आतंक की सृष्टि हुई, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। हमें उनकी अपनी स्वीकारोक्ति से ही ज्ञात हो चुका था कि अब्राह्मण होकर भी उन्होंने संन्यास ग्रहण किया है और संन्यासी होकर भी उन्होंने ऐसी चीजों के लिए इच्छा व्यक्त की थी, जो केवल गृहस्थ लोगों की ही आवश्यकता मानी जाती हैं। यह तो सचमुच ही उल्टी-पुल्टी बात थी, तथापि वे हमारे विचारों को पलटने में सफल हुए। वैसे एक संन्यासी द्वारा पान-सुपारी या चबाने के तम्बाकू माँगने में कुछ भी गलत न था, परन्तु अपनी इच्छा की जो व्याख्या उन्होंने दी, उसने हमें पूरी तौर से हथियार डालने को बाध्य कर दिया। उन्होंने बताया कि वे एक आनन्दप्रिय युवक तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक प्रतिष्ठित ग्रैजुएट हैं और श्रीरामकृष्ण परमहंस से मिलने के पूर्व का उनका जीवन उनके परवर्ती जीवन से बिल्कुल भिन्न था। श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेशों के परिणामस्वरूप उन्होंने अपना जीवन तथा दृष्टिकोण बदल डाला है, परन्तु कुछ चीजों से छुटकारा पाना उन्हें असम्भव लगा, अत: उन्हें ज्यादा महत्व का न समझकर उन्होंने रहने दिया था। भोजन के विषय में जब उनसे पूछा गया कि वे शाकाहारी हैं या मांसाहारी, तो उन्होंने कहा कि साधारण संन्यासी परम्परा के स्थान पर परमहंस परम्परा के होने के कारण इस विषय में उनकी अपनी कोई पसन्द नहीं है। परम्परागत नियमों के अनुसार परमहंस को जो भी दिया जाय, वह उसे खाने को बाध्य है और जब उसे कुछ भी न दिया जाय, तो उसे निराहार रहना पड़ता है। एक परमहंस द्वारा, धार्मिक विश्वासों से निरपेक्ष, किसी भी व्यक्ति से भोजन ग्रहण करने का निषेध नहीं किया गया है। पूछा गया कि क्या वे अहिन्दुओं द्वारा बनाया हुआ भोजन भी स्वीकार करेंगे, तब

उन्होंने हमें बताया कि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें कई बार मुसलमानों द्वारा दिया हुआ भोजन भी स्वीकार करना पड़ा।

संस्कृत अध्ययन के प्राचीन पण्डिती शैली में स्वामीजी काफी पारंगत लगे। उनके आगमन के दिनों में मैं अष्टाध्यायी रट रहा था और एक बालक के रूप में मैं यह देखकर बड़ा विस्मित हुआ कि मैं जिस अष्टाध्यायी को बड़े कष्टपूर्वक कण्ठस्थ कर रहा था, उसके अंश उद्धृत करने में भी उनकी स्मरण-शक्ति मुझसे काफी उत्कृष्ट थी। जहाँ तक मुझे स्मरण है, एक बार जब मेरे पिताजी ने मुझसे वे अंश सुनाने को कहा, जिन्हें कि मैं तैयार कर रहा था, तो मुझसे कुछ गल्तियाँ हुई और स्वामीजी को मुस्कुराते हुए उन्हें सुधारते देखकर मैं चकरा गया। जहाँ तक उनके प्रति मेरी भावनाओं का सवाल है, इस घटना के फलस्वरूप मैं अभिभूत हो उठा। इसके बात जब पुन: अमरकोष के कुछ अंश सुनाने का प्रसंग आया, तो मैंने और अपनी बुद्धिमत्ता दिखाने के स्थान पर सावधानी से काम लिया और चूँकि उन अंशों को ठीक ठीक सुना पाने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था, अत: मैंने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया कि गल्तियाँ किये बिना मैं उन्हें सुना पाने में असमर्थ हूँ। जैसा कि स्वाभाविक था, मेरे पिताजी अपनी आशाओं के अनुरूप मुझे सफल न होते देख नाराज हुए और झल्लाये भी, परन्तु मैं एक बार फिर पकड़ में आने को तैयार न था और अपने नवागन्तुक अतिथि के हाथों अपमानित होने की अपेक्षा अपने पिता की क्षणिक झल्लाहट का पात्र बनना मुझे कहीं अधिक अच्छा प्रतीत हुआ।

"हमारे मेहमान के आगमन के बाद एक-दो दिन मेरे पिताजी उनकी थाह लेने में लगे रहे। इस अवधि में उनके मन में ऐसी धारणा हुई कि ये अतिथि न केवल सामान्य लोगों से ऊपर, वरन् एक असाधारण व्यक्तित्व वाले हैं। अत: स्वामीजी के विषय में अपनी धारणा को और भी सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने अपने अन्तरंग मित्रों को बुलाया। शीघ्र ही वे लोग इस बात पर सहमत हुए कि समस्त स्थानीय नेताओं तथा बुद्धिजीवियों को एकत्र करना कहीं अधिक उत्तम होगा। इसके बाद बेलगाँव में सबको स्वामीजी की उपस्थिति ज्ञात हो जाने पर प्रतिदिन एकत्र होनेवाली भीड़भाड़पूर्ण गोष्ठी के दौरान जिस बात ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया वह यह थी कि स्वामीजी वार्तालाप तथा गरमागरम तर्क-वितर्क के बीच भी अपना चिर आनन्दमय भाव बनाए रखते थे। प्रत्युत्तर देने में वे जरा भी विलम्ब नहीं करते थे, परन्तु उनके जवाब में कड़वेपन का अभाव रहता था। वाद-विवाद के दौरान स्वामीजी के धैर्य का एक दिन हमें मजेदार निदर्शन मिला। उन दिनों बेलगाँव में रहनेवाले एक एग्जिक्यूटिव इंजीनियर नगर के सबसे जानकार आदमी माने जाते थे। हिन्दुओं में उनकी तरह के लोग दुर्लभ नहीं है। अपने दैनन्दिन जीवन में वे एक ऐसे परम्परा-निष्ठ हिन्दू थे, जैसा कि मेरे ख्याल से केवल दक्षिण भारत ही उत्पन्न कर सकता है। पर अपने मानसिक दृष्टिकोण से वे न केवल सन्देहवादी थे, अपितु उन दिनों प्रचलित वैज्ञानिक दृष्टिकोण के वे एक बड़े कट्टर अनुगामी थे। अपनी रूढ़िवादी जीवनधारा के बावजूद वे ऐसा तर्क देते हुए-से प्रतीत हुए कि धर्म तथा धर्म-विषयक आस्थाओं के लिए, सिवाय इसके अन्य कोई आधार नहीं है कि लोग काफी काल से कुछ विशिष्ट धारणाओं तथा क्रियाओं के अभ्यस्त हो गये हैं। अपने इन विचारों के चलते उन्हें स्वामीजी की ओर से बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा, क्योंकि इन स्थानीय विभूति की तुलना में स्वामीजी कहीं अधिक अनुभवी थे और दर्शन तथा विज्ञान के क्षेत्र में उनका ज्ञान विशद था। जैसा कि स्वाभाविक था तर्क करते समय ये सज्जन कई बार अपना आपा खो बैठे और स्वामीजी के प्रति असभ्यतापूर्ण नहीं तो भी उद्दण्डतापूर्ण आचरण किया। अत: मेरे पिता ने इसका विरोध किया, परन्तु स्वामीजी ने बीच में पड़कर मुस्कराते हुए कहा कि इन एग्जिक्यूटिव इंजीनियर की नाराजगी दिखाने की पद्धति से वे जरा भी क्षुब्ध नहीं हुए हैं। उन्होंने बताया कि ऐसी परिस्थितियों में घोड़ों को सधानेवालों की पद्धति अपनाना ही श्रेयस्कर है। वे बोले कि जब एक प्रशिक्षक घोड़े के बच्चे को सधाना चाहता है, तो सबसे पहले वह केवल उसकी पीठ पर सवार होने को ही अपना लक्ष्य बनाता है और एक बार सवार हो जाने के बाद वह उसी पर जमे रहने तक ही अपना प्रयास सीमित रखता। वह घोड़े को उसे फेंक डालने का प्रयास कर लेने देता है और इस प्रकार उसकी अनियंत्रित शक्ति को समाप्त कर डालने का प्रयास करता है। परन्तु जब घोड़ा सारा प्रयास करके हार जाता है, तब कहीं प्रशिक्षक का सच्चा कार्य प्रारम्भ होता है। तब वह स्वामी हो जाता है तथा घोड़े को भी शीघ्र बोध हो जाता है कि वह स्वामी ही रहेगा और तब प्रशिक्षण का कार्य अपेक्षाकृत सहज हो जाता है। स्वामीजी ने बताया कि वाद-विवाद तथा वार्तालाप में भी अपनाने योग्य यही श्रेष्ठ पद्धति है। अपने प्रतिवादी को सारा दम लगाकर अपना अच्छे-से-अच्छा या बुरे-से-बुरा प्रयास कर लेने दो, उसे थककर चूर हो जाने दो और जब उसमें थकान के चिह्न दिखाई देने लगें, तब उसे वश में कर लो और उससे जो भी चाहो करवा लो। संक्षेप में कहा जाय तो यदि व्यक्ति अपने प्रतिवादी को केवल चुप ही कराना नहीं, बल्कि कुछ और भी चाहता हो, तो उसका उद्देश्य नियंत्रण या विवश करने के स्थान पर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना होना चाहिए। प्रतिवादी द्वारा स्वैच्छिक स्वीकृति ही इस पद्धति का अवश्यम्भावी परिणाम होगा।

"अधीर तथा हठी युक्तिवादियों के लिए स्वामीजी एक अत्यन्त समस्याजनक प्रतिवादी थे। नगर के सभी तर्कशील प्रतिभाओं को उन्होंने शीघ्र ही शान्त कर दिया। परन्तु उनका

लक्ष्य वाद-विवाद में विजय पाने की अपेक्षा इस भाव को जगाना तथा प्रचारित करना अधिक प्रतीत होता था कि हिन्दू धर्म अब मरणासन्न नहीं रहा – इस बात को अब अपने देश तथा सम्पूर्ण विश्व के सामने रखने का समय आ गया है। वे कहते कि वेदान्त के अमूल्य तत्त्वों का जगत् में प्रचार करने का समय आ गया है। मेरे विचार से वेदान्त के बारे में उनका दृष्टिकोण परम्परागत दृष्टिकोण से काफी अलग था। लगता है उन्हें शिकायत थी कि वेदान्त को उसके वास्तविक रूप में एक जीवनदायी चिर प्रेरणास्रोत के स्थान पर एक सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति मान लिया गया था, जो हिन्दू समाज के प्रति वफादारी दिखाने में अन्य सम्प्रदायों के साथ स्पर्धारत था। उनके कथनानुसार वेदान्त में एक विशेष खतरा यह है कि इसके मत तथा सिद्धान्त आसानी से कायरों द्वारा भी स्वीकृत हो सकते हैं। वे कहा करते थे कि कायर लोग भले ही वेदान्त को स्वीकार कर लें, परन्तु अत्यन्त वीरहृदय लोगों द्वारा ही इसे आचरण में लाया जा सकता है। वेदान्त दुर्बल पेटवालों के लिए एक दुष्पाच्य आहार है। उनका एक प्रिय उदाहरण था अहिंसा का सिद्धान्त, जिसमें प्रतिरोध करने की क्षमता का होना और प्रतिरोध से जानबूझकर विरत रहना आवश्यक था। वे कहते कि यदि एक बलवान व्यक्ति एक उतावले या दुर्बल प्रतिद्वन्द्वी पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने से स्वेच्छया विरत होता है, तो वह यथार्थ रूप से अपनी इस क्रिया के पीछे उच्चतर प्रेरणा का दावा कर सकता है। परन्तु दूसरी ओर, यदि उसमें शक्ति की स्पष्ट श्रेष्ठता न हो, तो फिर वस्तुत: प्रतिद्वन्द्वी ही अधिक शक्तिशाली हो, तो फिर शक्तिप्रयोग से विरत रहना कायरता का सन्देह उत्पन्न करता है। वे बताते थे कि श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दी गई शिक्षा का यही वास्तविक सार है। अर्जुन के मन की द्विविधा उनके नि:सन्दिग्ध तथा अमोघ शक्ति के उपयोग में एक वास्तविक अनिच्छा के अतिरिक्त सहज ही अन्य कारणों से भी हो सकती है। इसीलिए इस विषय पर सुदीर्घ तथा जटिल तर्क-वितर्क गीता के अठ्ठारह अध्यायों में निबद्ध हुआ है।''

❖ (क्रमश:) ❖

(स्वामीजी ने बेलगाँव में कुछ मिलाकर लगभग १५ दिनों तक निवास किया, आगामी अंक में हम वहीं के बाकी रोचक संस्मरण प्रस्तुत करेंगे)

परीक्षा की कसौटी

भैरवदत्त उपाध्याय

'परीक्षा' शब्द सुनते ही हमारी धमनियों में रक्त-सचार की गति बढ़ जाती है और अपने भीतर आत्मविश्वास की कुछ कमी प्रतीत होने लगती है। मन में बार बार यह बात आती है - ''न जाने सफलता मिलेगी या नहीं, मिलेगी भी तो उसका स्तर क्या होगा? सीमा क्या होगी?'' एक अजीब बेचैनी और तर्क-वितर्क की स्थिति होती है। ऐसी दशा केवल कुछ ही लोगों की होती हो - ऐसी बात नहीं है, सबकी होती है। चेतन तो क्या, अचेतन भी परीक्षा के नाम से काँपने लगता है। ''उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रखा जाता है, तो पहले काँप उठता है।'' (प. प्रताप नारायण मिश्र) महाकवि कालिदास उत्कृष्ट कोटि के कवि थे, पर उन्हें भी परीक्षा देने से भय लगता था। उनका विश्वास भी डगमगा गया था। अपने नाटकों के मूल्याकन के विषय में उनमें निश्चिन्तता नहीं थी। उनका कथन है कि ''जब तक मेरे सृजन से विद्वानों को परितोष नहीं होगा, तब तक मैं अपने सृजन को पूर्ण नहीं मान सकता; क्योंकि बड़ा-से-बड़ा विद्वान् भी अपने बारे में आश्वस्त नहीं होता –

आपरितोषाद् विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग-विज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानाम् आत्मनि अप्रत्ययं चेत:॥

व्यक्ति समाज में परीक्षा देने के लिए ही प्रकट होता है। उसका सम्पूर्ण जीवन परीक्षाओं में से गुजरता है। प्रतिपल उसकी परीक्षा होती रहती है।

समाज की हजारों-हजार आँखें उसकी हर गतिविधि को जाँचने-परखने के लिए लगी रहती हैं। एक कवि ने कहा है कि अचेतन सोने को कसौटी पर कस कर, आग में तपा कर, निहाई पर हथौड़े से पीट कर और काट कर परखा जाता है। मनुष्य की परख भी त्याग, शील, गुण और कर्म से होती है -

यथा चतुर्भि: कनकं परीक्ष्यते-
निघर्षणच्छेदन तापताडनै:।
तथा चतुर्भि: पुरुष: परीक्ष्यते-
त्यागेन शीलेन गुणैश्च कर्मणा॥

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसी घड़ियाँ अवश्य आती हैं, जो उसकी कठिन परीक्षा की होती हैं। सीता की अग्निपरीक्षा ली गई। राम के रामत्व की परीक्षा पार्वती और इन्द्रपुत्र जयन्त ने

ली। भक्त प्रायः ही भगवान की परीक्षा लेता है। किसी-न-किसी सकट से निकलने के लिए वह उनका स्मरण करने लगता है और भगवान को उसे उबारना पड़ता है। मनुष्य आजीवन परीक्षाओं का सामना करता रहता है। यह बात दिगर है कि उसका परिणाम कभी सुखद तो कभी दुखद होता है। जीवन में परीक्षाओं को हम प्रायः आपदाओं के रूप में ही लेते हैं, क्योंकि मानसिक रूप से हम उनके लिए कभी तैयार नहीं होते, पर ये सहज और स्वाभाविक होती हैं। इनका गम्भीर और विकराल रूप हमारे सामने तभी होता है, जब इन्हें हम केवल आपदाओं के रूप में ही मानते हैं। यही कारण है कि हम प्रायः विचलित हो सहजता खो बैठते हैं; जबकि परीक्षा तो जीवन में नियमित रूप से चलनेवाली एक प्रक्रिया है, जो मानव जीवन को गति प्रदान करती है, उसके व्यक्तित्व को निखार कर कुन्दन बनाती है। परीक्षा से उसके व्यक्तित्व में श्रेष्ठ गुणों का संचार होता है और प्रगति की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है। इनसे साहस, आत्मविश्वास, निर्भीकता, अनुभव, नवीन ज्ञान, मित्रों की पहचान, प्रगति व उपलब्धियों का मूल्याकन होता है। फिर गम्भीर परिस्थितियों से जूझने को बल भी मिलता है। इसलिए इनसे घबराना, कतराना या इन्हें टालने का प्रयास करना उचित नहीं है।

परीक्षा के लिए हमें हर समय तैयार रहना चाहिए, क्योंकि हमारा सम्पूर्ण जीवन परीक्षामय है। धैर्य, विवेक और सयम से परीक्षा की वैतरणी को पार किया जा सकता है। आत्म-विश्वास, निष्ठा एव निरन्तर साधना की पतवारें कारगर हो सकती हैं। अनवरत अभ्यास, एकाग्रता, ध्येय-निष्ठा और समर्पण से परीक्षा की देवी वरदायिनी हो जाती हैं। प्रत्येक परीक्षा को अन्तिम मानकर उसकी तैयारी सम्पूर्ण शक्ति के साथ होनी चाहिए। परन्तु परीक्षा को कभी अन्तिम समझ बैठना भूल है, क्योंकि वह कभी अन्तिम नहीं होती। इसलिए उसी उत्साह के साथ बार बार तैयार होना आवश्यक है।

यदि प्रयासों की निरन्तरता है, तो किसी-न-किसी क्षण सफलता हमें अनायास मिलेगी। प्रयासों की न्यूनता के कारण किसी बार यदि असफलता मिलती है, तो वह हमारे दुःख का कारण नहीं होनी चाहिए। उससे हमारी अयोग्यता अथवा निहित क्षमताओं का अभाव भी प्रमाणित नहीं होता। मानव द्वारा आयोजित कृत्रिम परीक्षाएँ मानव की अमोघ शक्ति, असीम योग्यता और अनन्त सम्भावनाओं का मापदण्ड नहीं हो सकती, क्योंकि वे तो उसके व्यक्तित्व के गणनातीत आयामों में से किसी एक आयाम का एक कोना भी नहीं छू पातीं। तब हम उन्हें सर्वांग तथा विश्वसनीय मानकर प्रामाणिक कैसे मानें? और दुखी क्यों हों? परीक्षा हमारे जीवन का ध्येय नहीं है। जीवन का साध्य या लक्ष्य नहीं है। वह हमारे जीवन-मार्ग का अन्तिम पड़ाव भी नहीं है। वह मील का पत्थर है, जहाँ हमारी जीवन-यात्रा का विश्रामगृह नहीं बन सकता। परीक्षाएँ हमारी उपलब्धियों के साधन हैं, अतएव उनकी पवित्रता से ही हमारे साध्यों की पवित्रता की रक्षा हो सकती है। गलत साधनों से पाया गया साध्य आत्मा को आनन्दित नहीं करता, जीवन में सफलता के द्वार नहीं खोलता और प्रगति के उच्चतर शिखरों की ओर नहीं ले जाता। परीक्षा जब साध्य बन जाती है, तब गलत साधनों से उसे प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा होती है। इस प्रतिस्पर्धा में गलत साधनों को अधिकाधिक मात्रा में जुटाने की लालसा बलवती होती है, उनके कम पड़ने अथवा उनके छीने जाने पर व्यक्ति आक्रुष्ट और क्रुद्ध होता है। उसकी पाशविक वृत्तियाँ उग्र तथा हिंसाचार स्वाभाविक हो जाता है। अनेक खेलों में से परीक्षा भी जीवन का एक खेल है। खिलाड़ी-भावना से इसे लेना आवश्यक है। अन्यथा तनाव को आमंत्रित करना, स्वय को हीन समझना और हत्या या आत्महत्या जैसे जघन्य कृत्य को उद्यत होना विवेकसगत नहीं है।

परीक्षा व्यक्तिविशेष को ही देनी पड़ती हो, ऐसा नहीं है। परीक्षा की चुनौतियाँ कभी परिवार को, कभी समाज को, कभी राष्ट्र को और कभी विश्व को स्वीकार करनी पड़ती है। जैसे वर्तमान में गरीबी, भूखमरी, अज्ञानता, जनसख्या-वृद्धि, सामाजिक विद्वेष और मूल्यों के सकट से निपटना हमारे लिए परीक्षा के तुल्य है। कालाबाजारी, मुनाफाखोरी, मिलावट और आतकवाद की समस्याओं का समाधान खोजना विश्व की परीक्षा है। राष्ट्र को विखण्डित करने-वाली शक्तियों का सामना करना भी एक परीक्षा है। इनसे व्यक्ति अकेला नहीं जूझ सकता।

यदि व्यष्टि अथवा समष्टि के जीवन में परीक्षा न हो, तो उसका मूल्य भला क्या होगा? व्यष्टि एव समष्टि - दोनों ही परीक्षा के मानदण्ड निर्धारित करते हैं, दोनों मूल्यों की कसौटी पर कसे जाते हैं। जो जितना खरा उतरता है, वह उतना ही सम्मान का भाजन बनता है। जीवन-स्वर्ण की शुद्धता के हेतु केवल एक परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना पर्याप्त नहीं है, उसे तो अनेकानेक परीक्षाएँ देनी हैं और सभी में शत-प्रतिशत अकों के साथ उत्तीर्ण होना आवश्यक है। तभी तो वह समाज में अपना विशिष्ट स्थान बना सकता है। सूचनाओं की स्मरण-शक्ति की परीक्षा तो ढकोसला मात्र है। पर इसके लिए भी हमें ईमानदार होना जरूरी है। ❑❑❑

आचार्य रामानुज (२२)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेन्नै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

१९. यज्ञेश और कार्पासाराम

इसके बाद श्री रामानुज अपने शिष्यों को नम्मालवार या शठारि विरचित 'सहस्रगीत' नामक तमिल प्रबन्धमाला पढ़ाने लगे। इसके पूर्व वे महापूर्ण तथा मालाधर से उनका अध्ययन कर चुके थे, पर अपनी अलौकिक प्रतिभा से वे उसके अनेक नवीन मर्मार्थ निकालकर अपने शिष्यों को चमत्कृत करने लगे। उक्त प्रबन्ध में एक स्थान पर श्रीशैल अथवा तिरुपति नामक स्थान का माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है – "यह श्रीशैल पार्थिव वैकुण्ठ-स्वरूप है। यहाँ आजीवन निवास करनेवाले वास्तविक वैकुण्ट में ही निवास करते हैं और अन्त में वैकुण्टलोक जाकर श्रीमन्नारायण की पदछाया का आश्रय पाते हैं।" पाठ समाप्त होने पर उन्होंने शिष्यों से पूछा, "तुम लोगों में ऐसा कौन है, जो श्रीशैल जाकर वहाँ आजीवन निवास कर सके?" इस पर अनन्ताचार्य नामक एक शान्त शिष्य ने कहा, "प्रभो, यदि आप अनुमति दें, तो मैं उक्त गिरिवर पर आजीवन रहकर स्वयं को कृतार्थ करूँ।" श्री रामानुज इस पर अतीव हर्षित होकर बोले, "धन्य हो वत्स, तुम्हारे समान कुलपावन पुत्र जिस वंश में जन्मा हो, उसका असीम भाग्य है। तुम अपनी पिछली तथा अगली चौदह पीढ़ियों के उद्धार का कारण हुए। तुम्हारे समान शिष्य पाकर मैं कृतार्थ हो गया। श्री अनन्ताचार्य ने श्रीगुरु-पद-वन्दना की और उनकी प्रदक्षिणा करने के बाद श्रीशैल की ओर प्रस्थान किया।

इसके पश्चात् यतिराज ने अपने शिष्यों के साथ समग्र 'सहस्रगीति' का तीन बार अध्ययन किया। पाठ समाप्त हो जाने पर वे भी शिष्यों सहित श्रीशैल चल पड़े। हरिनाम-संकीर्तन ही उनके पथ का सम्बल हुआ। पहले दिन उन लोगों ने देहली नगर में पहुँचकर विश्राम किया। अगले दिन वे लोग अष्ट सहस्र नामक ग्राम की ओर उन्मुख हुए। उस गाँव में यज्ञेश तथा वरदाचार्य नामक दो ब्राह्मण शिष्य निवास करते थे । इनमें से प्रथम अतीव धनाढ्य थे। श्री रामानुज ने उन्हीं के घर आतिथ्य-ग्रहण करने की इच्छा से साथ के दो शिष्यों को अपने आगमन की सूचना देने हेतु आगे आगे भेजा। उन दो शिष्यों ने जब द्रुत गति से जाकर यज्ञेश को यह शुभ संवाद दिया, तो उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने तत्काल अपने परिवार के लोगों को यतिराज के स्वागत हेतु आवश्यक धन-संग्रह करने का आदेश दिया और स्वयं व्यवस्था देखने को घर के भीतर गये तथा आगन्तुक श्रान्त पथिकों का सत्कार करना बिल्कुल ही भूल गये। गृहस्वामी के ऐसे आचरण पर व्यथित होकर उन दोनों ने श्री रामानुज के पास लौटकर, जो कुछ हुआ था, सब निवेदित किया।

यतिराज को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने वरदाचार्य नामक दूसरे शिष्य का आतिथ्य ग्रहण करने का निर्णय लिया । ये दूसरे शिष्य विदुर के समान निर्धन तथा पवित्र स्वभाव के थे । प्रतिदिन प्रात:काल वे अक्षयपात्र हाथ में लेकर भिक्षाटन को निकल जाते और दोपहर के बाद घर लौटते। इस प्रकार वे भिक्षालब्ध वस्तुओं के द्वारा नारायण की सेवा करते हुए अपनी सती-साध्वी परम कल्याणमयी लक्ष्मी नाम की सहधर्मिणी के साथ परम सन्तोषपूर्वक जीवनयात्रा चला रहे थे। उनके घर के आसपास बेतरतीब भाव से कपास के कुछ पौधे उगे होने के कारण लोग उन्हें हँसी में कार्पासाराम कहते थे। जब श्री रामानुज ने अपने शिष्यों के साथ कार्पासाराम के घर में अतिथि के रूप में प्रवेश किया, उस समय लक्ष्मीदेवी के पति भिक्षाटन हेतु गाँव में गये हुए थे।

घर में किसी पुरुष को न देखकर यतिराज ने अन्त:पुर की ओर उन्मुख होकर गृहस्वामिनी को अपने आगमन का सूचना दी। लक्ष्मीदेवी उसी समय स्नान करके कपड़े सूखने को धूप में डालकर फटे-पुराने वस्त्र धारण किये थीं। अत: गुरुदेव के सम्मुख आने में अक्षम होकर उन्होंने हाथ से ताली बजाकर संकेत देते हुए अपनी हालत से अवगत कराया। यतिराज ने तत्काल अपना उत्तरीय घर के भीतर फेंक दिया। लक्ष्मीदेवी उसी से अपना शरीर ढँककर गुरुदेव के सम्मुख आयीं और आनन्द से उन्मत्त होकर बारम्बार उन्हें प्रणाम करते हुए बोलीं, "महात्मन्, मेरे स्वामी भिक्षाटन के लिए गये हैं। आप आराम से बैठें। पाँव धोने के लिए यह जल लेकर मुझे कृतार्थ करें। सामने तालाब है, वहाँ स्नान करके अपनी थकान दूर करें। मैं शीघ्र ही श्री विष्णु का नैवेद्य तैयार कर देती हूँ।" यह कहकर वे घर के भीतर चली गयीं। घर में चावल का कणमात्र भी न था। अब वे क्या करें, कैसे गुरुदेव को सेवा द्वारा सन्तुष्ट कर कृतकृत्य हों, इसी पर विचार करने लगीं।

समीप ही एक धनी वणिक् निवास करता था। वह लक्ष्मीदेवी का परम सुन्दर रूप देखकर विमोहित हो गया था। उसने मदनातुर होकर कितनी ही बार सन्देश भेजकर उन्हें धन आदि

का प्रलोभन दिया था, परन्तु अपनी कुवृत्ति को सफल बनाने में उसे कैसे भी सफलता नहीं मिल सकी थी। लक्ष्मी देवी ने सोचा, "क्यों न आज मैं इस अस्थि-मांस-मल-मूत्रमय देहपिण्ड के बदले में श्रीगुरु की सेवा करके धन्य हो जाऊँ? कलिघ्न नामक एक परम भक्त ने तो चोरी की वृत्ति के सहारे अपने इष्टदेव की सेवा की थी। भगवान ने उन पर प्रसन्न होकर कहा था, "मेरे लिए किया हुआ पाप भी पुण्य में परिणत हो जाता है, परन्तु मेरा अनादर करते हुए किया हुआ पुण्य भी पाप के ही समतुल्य होता है।"[१] अत: मैं अभी जाकर सेठ को उसकी अभिलाषा-पूर्ति का वचन देकर अतिथि-सत्कार के लिए आवश्यक सारी सामग्री ले आती हूँ।"

ऐसा निश्चय करके वे घर के दूसरे द्वार से बाहर निकलीं। सात द्वारों से विभूषित वणिक् की विशाल अट्टालिका में प्रविष्ट होकर वे एक एक कर कई द्वारों को पारकर उसके निर्जन कक्ष में जा पहुँचीं। उससे भेंट होने पर अपना मनोभाव व्यक्त करते हुए लक्ष्मी देवी ने कहा, "हे श्रेष्ठि, आज रात मैं आपकी कामना पूर्ण कर दूँगी। अभी मेरे गुरुदेव अपने शिष्यों के साथ घर में अतिथि के रूप में पधारे हुए हैं। उनकी सेवा के लिए आवश्यक चीजें मँगाकर भेज दो। इतने से ही तुम्हारी कामना सफल होगी।" वणिक् यह सुनकर परम विस्मित हुआ। जिन्हें प्राप्त करने के लिए वह कबसे प्रलोभन दिखा रहा था, कितने ही सन्देश भेज रहा था और अन्त में हताश होकर उस कामना को प्राय: त्याग ही चुका था; आज वे स्वयं ही उनके सामने याचिका होकर आयी हुई हैं। वणिक् को अतीव आनन्द हुआ। उसने तत्काल विविध प्रकार की अच्छी अच्छी वस्तुएँ बँधवाकर युवती के पीछे भेज दी।

लक्ष्मी देवी उन सब वस्तुओं से विष्णु का नैवेद्य पकाने लगीं। थोड़े ही समय में उन्होंने अनेक प्रकार के अन्न-व्यंजन बना लिए और गुरुदेव को शिष्यों सहित भोजन के लिए आमंत्रित किया। उन लोगों ने अतीव तृप्ति के साथ सब ग्रहण किया और उन्हें हृदय से धन्यवाद तथा आशीर्वाद देने लगे।

थोड़ी देर बाद उनके पति भिक्षाटन समाप्त करके घर लौटे और सशिष्य गुरुदेव का दर्शन एवं वन्दना कर असीम आनन्दित हुए। जब उन्होंने सुना कि पत्नी ने यथोचित सम्मान सहित विविध अमृतोपम अन्न-व्यंजनों द्वारा उन्हें भलीभाँति सन्तुष्ट कर दिया है, तो इस पर उन्हें अपार विस्मय हुआ। वे निर्धन और अकिंचन थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि उनकी सहधर्मिणी ने कहाँ से सारी वस्तुओं की व्यवस्था की। घर में जाकर उन्होंने पत्नी से इस विषय में पूछा। लक्ष्मी देवी ने आद्योपान्त सब कह सुनाया और हाथ जोड़े, सिर झुकाए पति के सम्मुख खड़ी रहीं।

क्रुद्ध होना तो दूर, वरदाचार्य हर्ष का आवेग संवरण कर पाने में असमर्थ होकर **धन्योऽहं कृतकृत्योऽहम्** – कहते हुए नृत्य करने लगे। उन्होंने पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहा, "साध्वी, आज तुमने अपने सतीत्व का यथार्थ परिचय दिया है। गुरुरूपी नारायण ही एकमात्र पुरुष हैं और वे ही सम्पूर्ण प्रकृतिवर्ग के पति हैं। अस्थि-मांसमय शरीर के बदले आज जो तुम परम पुरुष की सेवा कर सकी हो, इससे बढ़कर सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है? अहा, मैं कैसा भाग्यवान हूँ! कौन कहता है कि मैं निर्धन हूँ? तुम्हारे समान परम भक्तिमती नारी जिसकी सहधर्मिणी हो, वह कितना सौभाग्यशाली है!" यह कहकर वे अपनी पत्नी का हाथ पकड़े श्री गुरुदेव के सम्मुख उपस्थित हुए और उनके चरणों में बड़ी देर तक प्रणत रहे। इसके बाद निर्धन वरदाचार्य ने यतिराज को जब अपनी पत्नी के आचरण से अवगत कराया, तो वे शिष्यों सहित विस्मित रह गये।

गुरुदेव के आदेशानुसार दम्पति ने प्रसाद ग्रहण करके थोड़ी देर विश्राम किया और तदुपरान्त वे दोनों बचा हुआ सारा प्रसाद लेकर वणिक् के घर गये। वरदाचार्य बाहर खड़े रहे और लक्ष्मी देवी ने घर के भीतर जाकर वणिक् से वह प्रसाद ग्रहण करने का अनुरोध किया। उसने परम आनन्द के साथ उसे ग्रहण किया। अहो! उस वैष्णवोच्छिष्ट प्रसाद की क्या ही महिमा है! भोजन समाप्त होते ही वणिक् एक अलग प्रकार का व्यक्ति हो गया। उसकी पुरानी कामवृत्ति न जाने कहाँ लुप्त हो गयी। लक्ष्मी देवी के प्रति कामभाव से देखना तो दूर, वह उन्हें माँ के रूप में सम्बोधित करते हुए रो-रोकर कहने लगा, "मैं क्या ही घोर महापातक करने को उद्धत हुआ था! जैसे निषाद दमयन्ती को स्पर्श करते समय भस्म हो गया था, मेरे भाग्य में भी वही लिखा था, परन्तु तुम्हारी अपार करुणा से इस बार मुझे नया जीवन मिला। माता, मेरे सारे अपराध क्षमा करो और ऐसा विधान करो कि यह नरपशु पूर्णरूपेण शुद्ध होकर मनुष्यत्व की उपलब्धि करे। अपने अभीष्ट-देवता के श्रीपादपद्मों का दर्शन कराकर मुझे कृतार्थ करो।"

वणिक् की यह बात सुनकर सती एक साथ ही विस्मित तथा आनन्दित हुईं। उनके हृदय का सारा आवेग दूर हो गया। सतीत्व अक्षुण्ण रह गया – यह सोचकर उनके हर्ष की सीमा न रही। श्रीगुरु की महिमा का प्रत्यक्ष निदर्शन पाकर वे भक्तिसागर में डूब गयीं। पति से मिलकर सब कुछ बताने पर उन विशुद्ध-हृदय निर्धन ब्राह्मण ने भी परम सन्तोष का अनुभव किया। दोनों ही वणिक् को साथ लेकर गुरुदेव के श्री चरणों में उपस्थित हुए और सबने मनसा-वाचा-कर्मणा उनकी शरण लेकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया।

शिष्यगण यह अभूतपूर्व घटना देख-सुनकर आश्चर्यचकित रह गये और यतिराज की असीम शक्ति का परिचय पाकर

---

१. मन्निमित्तं कृतं पापमपि पुण्याय कल्पते।
मामनादृत्य तु कृतं पुण्यं पापाय कल्पते।। (प्रपन्नामृतम्, २७/५१)

उनके प्रति और भी भक्तिमान हो उठे। श्री रामानुज ने अपने पवित्र हाथों से उक्त दम्पति तथा वणिक् का स्पर्श करके उनके समस्त दुःख दूर कर दिये। वणिक् ने जब आनन्द से उत्फुल होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की, तो उन्होंने उसे दीक्षा भी देकर कृतार्थ किया। वणिक् द्वारा प्रदत्त विपुल धनराशि को देखकर यतिराज के मन मे विचार आया कि क्यों न इसके द्वारा इस निर्धन दम्पति की गरीबी को दूर करके इन्हें सुखी तथा निश्चिन्त कर दिया जाय। उनके ऐसा अनुरोध करने पर निर्धन शीलवान ब्राह्मण ने अतीव विनय-पूर्वक कहा, "प्रभो, आपके आशीर्वाद से मुझे कोई अभाव नहीं है। भिक्षावृत्ति के द्वारा जो कुछ मिल जाता है, उसी में मेरा गुजारा हो जाता है। धन समस्त अनर्थों का मूल है। यह इन्द्रिय-लोलुपता को बढ़ाकर चित्त को भगवत्पादपद्मों से विमुख कर देता है। इस दास को ऐसा धन ग्रहण करने का आदेश मत दीजिए।" यह सुनकर यतिराज अतीव आनन्दित हुए और निर्मल-स्वभाव परम भक्तिमान ब्राह्मण का आलिंगन करते हुए बोले, "तुम्हारे समान निस्पृह तथा शन्तिमय महात्मा का स्पर्श करके आज मैं धन्य हुआ। तुम लोगों की परम भक्ति एवं निष्कामता सबके लिए अनुकरणीय होगी।"

जिस समय वहाँ सभी लोग स्वर्गीय आनन्द का उपभोग कर रहे थे, उसी समय यतिराज के धनाढ्य शिष्य यज्ञेश वहाँ आ पहुँचे। पहले तो वे व्याकुल चित्त से अपने घर में ही गुरुदेव की प्रतीक्षा कर रहे थे, बाद में जब सुना कि उन्होंने निर्धन कार्पासाराम की सेवा ग्रहण कर ली है, तो वे अतिशय दुखी होकर सोचने लगे, "मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है कि गुरुदेव ने मेरी सेवा ग्रहण नहीं की? अवश्य ही कोई त्रुटि हुई होगी; नहीं तो जीवहित ही जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है, वे भला क्यों मुझे छोड़कर दूसरे को कृतार्थ करते?" ऐसा विचार करते हुए वे अपराधी के समान डरते हुए सविनय श्री रामानुज के पास आये और उनके चरणों में साष्टांग प्रणत होकर रोने लगे।

यतिराज ने बड़े प्रेम से हाथ पकड़कर उन्हें उठाया और बोले, "वत्स, तुम्हारे घर मैंने आतिथ्य ग्रहण नहीं किया, इसके लिए तुम दुखी हो। इसका कारण है वैष्णव की अवहेलना। वैष्णव-सेवा के समान परम धर्म दूसरा नही है। तुम उसी सेवा का अनाचार कर अति दोषी हुए हो। मार्ग में थके भूखे-प्यासे मेरे दो शिष्यों के मुख से मेरे आने का समाचार सुनने के उपरान्त तुमने उन्हें पाँव धोने के लिए जल देना तो दूर, बैठकर थोड़ा-सा आराम भी कर लेने को नहीं कहा। इससे तुम्हारी निष्ठुरता ही प्रकट हुई है। इसी कारण तुम्हारी सेवा ग्रहण करने की मुझे इच्छा नहीं हुई। और इस निर्धन अकिंचन ब्राह्मण ने आज मुझे क्या ही अमृतमय भोजन कराया है! वैसा क्या तुम्हारे समान धनगर्वित के घर प्राप्त हो सकता था?" यह सुनकर यज्ञेश परम व्यथित हृदय से बोले, "हे गुरुदेव, धन की मदान्धता के कारण मुझसे ऐसा अनुचित आचरण नही हुआ, बल्कि आपके आगमन का उल्लास ही इसका कारण है। मैं बड़ा ही अभागा हूँ, जो आपकी सेवा से वंचित रहा।" यह कहकर यज्ञेश अपने आपको बारम्बार धिक्कार देते हुए रोने लगे। श्री रामानुज ने वचन दिया कि श्रीशैल से लौटते समय वे अवश्य उनका आतिथ्य ग्रहण करेंगे और इस प्रकार उन्होंने अनुतप्त सरल-हृदय भक्त को सान्त्वना प्रदान की।

❖ (क्रमशः) ❖

बाँसुरी बजती है अन्तर में

गुलाब खण्डेलवाल

बाँसुरी बजती है अन्तर में
चलता हूँ मैं तम में श्रद्धा-
ज्योति लिए निज कर में ।।

सुन जिसको भारत के रण में
बोध हुआ अर्जुन को मन में
पड़ते ही वे शब्द श्रवण में
भय मिटता क्षण भर में ।।

महाकाल जब आँख दिखाता
ज्यों कोई फिर मुझे सुनाता -
"चित्स्वरूप तू कब मिट पाता
अणुओं के चक्कर में ।।

"पाया ज्यों नर-तन मर-मरकर
पायेगा आगे छवि शुचितर
तेरे साथ रहूँगा, मत डर
सदा सृष्टि-पथ पर मैं"।

बाँसुरी बजती है अन्तर में
चलता हूँ मैं तम में श्रद्धा-
ज्योति लिए निज कर में ।।

भागवत-सार (२)

स्वामी रंगनाथानन्द

(प्रस्तुत लेख कलकत्ते के रामकृष्ण मिशन संस्कृति संस्थान में महाराज द्वारा अप्रैल, १९९७ ई. में प्रदत्त एक अंग्रेजी व्याख्यान पर आधारित है। इसमें महाराज ने भागवत के आधार पर बताया है कि भगवान हर प्राणी के हृदय में निवास करते हैं और मनुष्य की सेवा ही ईश्वर की सच्ची उपासना है। उपरोक्त संस्थान के बुलेटिन से हिन्दी में अनुवाद किया है स्वामी निर्विकारानन्द जी ने, जो इसी आश्रम के अन्तेवासी हैं। – सं.)

ध्रुव की कथा

श्रीमद् भागवत के आठवें अध्याय के सातवें श्लोक में हम राजा उत्तानपाद की पत्नी सुनीति से जन्मे उनके पुत्र ध्रुव की कथा पाते हैं। उत्तानपाद की सुरुचि नाम की एक अन्य पत्नी भी थी। वह राजा की प्रिय पत्नी थी और जैसा कि स्वाभाविक है उसका पुत्र उत्तम राजा का विशेष प्रिय था। एक दिन जब पाँच वर्ष के बालक ध्रुव ने देखा कि पिता उसके भाई को गोद में बैठाकर उसे दुलार रहे हैं, तो वह भी उनकी गोद में बैठने गया। इस पर सुरुचि क्रोधित हो उठी और उसने ध्रुव की भर्त्सना करते हुए उससे कहा कि उसे पिता की गोद में बैठने का बिल्कुल भी अधिकार नहीं है। 'यदि तुम मेरे गर्भ से जन्म लेते, केवल तभी तुम अपने पिता की गोद में बैठ पाते।' यह सुनकर ध्रुव बड़ा क्षुब्ध हुआ। वह अपनी माता सुनीति के पास जाकर रोने लगा। सुनीति ने कहा, "बेटा, मैं क्या कर सकती हूँ? मैं तो बिल्कुल ही असहाय हूँ। भगवान से प्रार्थना करो, केवल वे ही तुम्हारी सहायता कर सकते हैं।"

दुखी मन से ध्रुव वन में चला गया। मार्ग में उसकी भेंट नारद मुनि से हुई। नारद ने उससे कहा कि तुम क्षत्रिय-पुत्र हो, यहाँ किसलिए आये हो? तुम्हारा यहाँ आना अनुचित है। परन्तु ध्रुव अडिग था। उसने कहा कि उसे निश्चित रूप से ईश्वर की उपासना करनी है। नारद मुनि उसकी दृढ़ता से प्रसन्न हुए और उसे ध्यान की विधि तथा छह महीने तक जिस मंत्र का जप करना था, वह सब बता दिया। ध्रुव ने नारद मुनि के निर्देश के अनुसार ध्यान किया। साधना के अन्त में भगवान प्रकट हुए, पर बालक की आँखें तब भी बन्द थीं। वह अपने भीतर ही उनका दर्शन कर रहा था, पर साक्षात् भगवान उसके सामने खड़े थे। अब भगवान ने क्या किया? वे उसके हृदय से अदृश्य हो गये और जैसे ही वे अदृश्य हुए, वैसे ही ध्रुव ने आँखें खोलीं। उसने देखा कि भगवान उसके समक्ष खड़े हैं। ध्रुव उनकी स्तुति करना चाहता था, लेकिन वह निरा पाँच वर्ष का बालक ही था। अत: न तो उसका भाषा पर अधिकार था और न वह स्तुति ही करना जानता था। वह तो केवल हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। भागवत में कहा गया है –

कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले ।। ४/९/४

हरि ने कृपापूर्वक अपने ब्रह्ममय नामक शंख को उसके गाल का स्पर्श करा दिया और ध्रुव के मन में तत्काल अनन्त ज्ञान का स्फुरण हुआ। वह अद्भुत ढंग से भगवान की स्तुति करने लगा। यही ध्रुव की कथा है।

मानव-जीवन की उत्कृष्टता

इसके बाद एक नया मत आता है कि स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी का जीवन श्रेष्ठतर है। उपनिषदों ने हमारे स्वर्गीय जीवन के विश्वास को उड़ा दिया है। श्रुति कहती है कि मूर्ख लोग ही स्वर्ग जाने हेतु इस लोक में कर्मकाण्ड का सहारा लेते हैं। भागवत के पंचम स्कन्ध के उस प्रसिद्ध श्लोक में घोषणा की गई है कि भारतवर्ष में जन्म लेना बड़े सौभाग्य की बात है –

अहो अमीषा किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ।। ५/१९/२१

– "अहा! भारतवर्ष के लोगों ने कैसे अद्भुत कर्म किये हैं या फिर भगवत्कृपा से वे इस पुण्यभूमि में जन्मे हैं। स्वर्ग के निवासी हम देवी-देवता भी भगवान मुकुन्द की सेवा करने की स्पृहा से भारतवर्ष में जन्म लेना चाहते हैं।"

लोग तरह तरह के कर्मकाण्डों का अनुष्ठान करके स्वर्ग जाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु जहाँ हम स्वर्ग जाने का प्रयत्न करते हैं, वहीं देवतागण तक मानव जन्म पाना चाहते हैं। सब कुछ यहीं, इसी संसार, इसी जीवन में है। उपनिषद् हमें ब्रह्म-स्वरूप बताते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में है – **तत् त्वम् असि** – तुम्हीं वह ब्रह्म हो; तुम सीमित नहीं, असीम हो। उपनिषदों में ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनमें मानव की महिमा अभिव्यक्त हुई है। परन्तु हम वह सब भूल गये हैं। श्रीमद् भागवत में भी एक बार फिर यह भाव आता है, जिसमें कहा गया है कि यह पृथ्वी ही सब कुछ है। हम यहाँ सब कुछ कर सकते हैं, अपने सच्चे स्वरूप को जान सकते हैं। इसीलिए हमारे सारे उपनिषदों, श्रीमद् भागवत तथा भगवद्गीता में 'इह' शब्द का बार बार प्रयोग आता है इह – यहीं – इस पृथ्वी पर ही तुम सर्वोच्च को, परम अनुभूति को प्राप्त कर सकते हो। शुकदेव ने इसे यहीं पाया और हम भी प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार इसमें मानव के पवित्र व्यक्तित्व की बारम्बार स्तुति की गई है।

आधुनिक जीवशास्त्री भी मानव को विलक्षण बताते हैं। ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कि 'मनुष्य ईश्वर की एक विशेष कृति है' को डार्विन तथा अन्य वैज्ञानिकों ने पूरी तौर से नकार दिया। उन लोगों ने क्रम-विकास की बात कही, परन्तु

मनुष्य की विलक्षणता को वे पहचान नहीं सके। मनुष्य संसार को समझ सकता है तथा इसे नियंत्रित कर सकता है। मनुष्य में एक विशेष पहलू है – आत्मा का पहलू। पशुओं में यह पहलू नहीं है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि मनुष्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप वाला है। तुम वही अनन्त आत्मा हो। तुम्हें इसकी अनुभूति करनी होगी और इस मानव शरीर में संसार और आत्मा को जानने की क्षमता है। यही मानव की विलक्षणता है। और भागवत में इस मानवीय विलक्षणता पर बारम्बार जोर दिया गया है। इसी में सब कुछ की अनुभूति की जा सकती है। वर्तमान युग में भी श्रीरामकृष्ण की शिक्षाओं में हम पाते हैं – "सब कुछ यहीं है, यह ज्ञान है और सब वहाँ है, यह अज्ञान।" अत: 'इह' शब्द गहन अर्थ से युक्त है – मानवरूपी तत्त्व का अध्ययन और उसमें निहित सम्भावनाओं का रूपायन करना होगा। भौतिक विज्ञान ने प्रकृति में निहित सम्भावनाओं का अध्ययन किया है एवं नाभिकीय ऊर्जा प्रकृति में छिपी हुई शक्ति की खोज है। पर अभी भी मनुष्य में अनन्त सम्भावनाएँ छिपी हैं। यही उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित वेदान्त है और आज हमें इसी को समझने की आवश्यकता है।

प्रह्लाद की कथा

आइए, अब हम श्रीमद् भागवत के सातवें स्कन्ध पर दृष्टि डालें, जहाँ प्रह्लाद-कथा का वर्णन किया गया है। हिरण्यकशिपु का पाँच वर्ष का पुत्र प्रह्लाद परम पवित्र था, पर हिरण्यकशिपु हिटलर के समान तानाशाह था और समस्त देवी-देवताओं से घृणा करता था। प्रह्लाद ने कहा – "हे पिता! आप केवल एक मनुष्य हैं और एक दिन मर जायेंगे। मेरा विचार है कि इस संसार को त्यागकर परमात्मा हरि की शरण पाने को वन में चले जाना श्रेयस्कर है।" हिरण्यकशिपु बड़ा नाराज हुआ और हर प्रकार से बालक पर अत्याचार करने लगा। अपने पुत्र के मन से ईश्वर, परमात्मा आदि सम्बन्धी धारणाओं को दूर करने के लिए उसने एक शिक्षक की नियुक्ति की। परन्तु प्रह्लाद इतना सबल तथा दृढ़निश्चयी था कि शिक्षक के अनुपस्थित रहने पर वह अपने साथियों को बुलाकर कहता –

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।। ७/६/१

– "मित्रो, चूँकि मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है और इसी में ही ईश्वरप्राप्ति सम्भव है, अत: बचपन से ही तुम्हें भागवत धर्म की साधना करने का प्रयास करना चाहिए। बुद्धिमान लोग इसीलिए इसी जन्म में भगवान की पूजा किया करते हैं।"

भागवत धर्म क्या है? हम सबमें ईश्वर हैं, अत: हमें सबके साथ सुखद सम्बन्ध जोड़ने होंगे तथा सबके प्रति सेवाभाव रखना होगा। यह देह यंत्र मात्र है; किसी भी क्षण इसका ध्वंस हो सकता है; अत: सावधानीपूर्वक धर्म का आचरण करो।

इसी अध्याय के और एक अन्य श्लोक में कहा गया है –

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः।। ७.६.१९

यह विशुद्ध वेदान्त की शिक्षा है। अच्युत शब्द साधारणत: भगवान श्रीकृष्ण को इंगित करता है। अच्युत का अर्थ है – जिसकी कभी च्युति न हुई हो। उन्हें स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। वे कभी नष्ट नहीं होते। वे अविनाशी हैं। उन अच्युत को प्रसन्न करना कोई कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि वे इधर-उधर नहीं जाते। वे यहीं और पूर्व प्राप्त हैं। वे आपकी अपनी ससीम आत्मा हैं, आपके अन्दर निहित पूर्ण सत्य हैं, आपको मात्र अनुभव ही करना है। यही प्रह्लाद की शिक्षा है।

अन्त में भगवान नृसिंह आये और उन्होंने हिरण्यकशिपु को मार दिया। भगवान नृसिंह का मुखमण्डल देखकर सभी लोग भयभीत हो गये। केवल बालक प्रह्लाद ही पूरी तौर से निर्भीक रहा। उसने मुस्कुरा कर भगवान नृसिंह से क्रोध को शान्त करने की प्रार्थना की। इस मधुर वाणी से प्रसन्न होकर भगवान नृसिंह बोले – प्रह्लाद, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे कोई वर माँगो –

प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम।
वरं वृणीष्वाभिमतं कामपुरोऽस्म्यहं नृणाम्।। ७.९.५२

किन्तु प्रह्लाद ने कहा – मैं प्रेम का व्यापारी नहीं हूँ। मैं केवल प्रेम करता हूँ और बदले में कुछ नहीं चाहता।

प्रेम के लिए प्रेम – शुकदेव और प्रह्लाद इस श्रेष्ठतम प्रकार की भक्ति के प्रतीक हैं। परन्तु भक्ति अनेकों प्रकार की हो सकती है। ११वें स्कन्ध में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

यदृच्छया मत्कथादौ
जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो
भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।। ११.२०.८

– "जो सौभाग्यवान व्यक्ति मेरे बारे में सुनकर आनन्दित होता है तथा जो न कर्तव्य से भागता है और न ही उसके फल में आसक्त होता है, वह भक्तियोग के द्वारा सिद्ध हो जाता है।"

मान लो तुम सड़क से जा रहे हो और संयोगवश तुमने देखा कि सड़क के किनारे सत्संग चल रहा है। प्रवचन में तुम भगवान के बारे में कुछ सुनते हो। सम्भव है कि वह व्याख्यान तुम्हें कुछ प्रेरणा दे दे। इसी का नाम है – **यदृच्छया मत्कथादौ** – संयोगवश भगवान के विषय में तुमने जो शब्द सुने, वे धीरे धीरे तुम्हारे मन में जड़ जमा लेंगे अर्थात् तुम्हारे मन में थोड़ी-सी भक्ति की शुरुआत होगी। अब तक तुममें त्याग का भाव नहीं है, किन्तु तुममें घोर आसक्ति भी नहीं है। ऐसे मनुष्यों के लिए भक्तियोग प्रभावी होगा और उसे सर्वोच्च अनुभूति के स्तर तक ले जायेगा। इसलिए कहा जाता है कि भक्तियोग

सबके लिए है। साधारण व्यक्ति भी भक्तियोग को अपना सकता है; उनमें यदि थोड़ी-बहुत संसारासक्ति है, तो भी कोई बात नहीं। उनके मन में थोड़ा-सा प्रेम होना ही जरूरी है।

इस सन्दर्भ में मैं यह भी बताना चाहूँगा कि समग्र विश्व एकमात्र इस प्रेम रूपी भाव का भूखा है। बर्ट्रेंड रसेल एक जगह कहते हैं – आज पूरा संसार अस्त-व्यस्त है; परन्तु यदि हमारे हृदय में थोड़ा-सा प्रेम हो, तो इस पूरी अस्त-व्यस्तता को समाप्त किया जा सकता है। सोरोकिन कहते हैं कि मनुष्य के हृदय की थोड़ी-सी परोपकारिता संसार को निवास का एक बेहतर स्थान बना सकती है। प्रेम की यह धारणा श्रीमद् भागवत में अद्भुत रूप में विकसित हुई है। प्रेम यदि सच्चा है, तो थोड़ा-सा साधारण संसारिक प्रेम भी महान् है। केवल स्नायुओं को उत्तेजित करना ही प्रेम नहीं है, बल्कि यह उससे कुछ गहन तत्त्व है। मैं प्रायः सर्वत्र ही 'प्रेम, प्रेम, प्रेम' सुनता हूँ, परन्तु जिन्होंने प्रेम का अनुभव किया है, वे प्रेम के बारे में चर्चा नहीं करते और जिन्हें प्रेम का जरा भी अनुभव नहीं, वे प्रेम के बारे में बड़ी बड़ी बातें बघारते रहते हैं। वस्तुतः हम नहीं जानते कि प्रेम कैसे किया जाता है। दो घड़ी या दो दिन का प्रेम, प्रेम नहीं है। सच्चा प्रेम स्थायी होता है। साधारण प्रेम से आरम्भ करके तुम उसका विकास करते हुए पवित्रतर बनाकर उच्चतर स्तरों तक ले जा सकते हो। श्रीमद् भागवत इन सभी प्रकार के प्रेमों की चर्चा करता है।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। ७/१६

गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, चार प्रकार के लोग मेरी पूजा करते हैं – विपत्ति में पड़ा मनुष्य, तत्त्व का जिज्ञासु, धन को पाने की कामना करनेवाला और ज्ञानी। भगवान कहते हैं कि इन चारों में ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है। परन्तु ये प्रेम की विभिन्न सीढ़ियाँ हैं। एक दिन श्रीरामकृष्ण देव ने एक नवयुवक से पूछा – क्या तुम किसी से प्रेम करते हो? युवक ने उत्तर दिया – नही। तव श्रीरामकृष्ण बोले – तुम कितने नीरस हो! अतः किसी-न-किसी से प्रेम करना चाहिए और तब तुम वह प्रेम विकसित कर सकते हो। पवित्रतर और श्रेष्ठ बना सकते हो; परन्तु तुममें वह प्रेम करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। यही भागवत का उपदेश है और यह पूरे ग्रन्थ में बारम्बार आता है।

समुद्र-मन्थन

अब हम इसके आठवें स्कन्ध के सातवें अध्याय पर आते हैं, जहाँ समुद्र-मन्थन वर्णित हुआ है। वहाँ हम पाते हैं कि देवता और असुर समुद्र-मन्थन के लिए एकत्रित हुए हैं। जैसे ही मन्थन आरम्भ हुआ, वैसे ही अनेक अच्छी वस्तुओं के साथ साथ भयंकर कालकूट विष भी ऊपर आया। देवतागण भयभीत हो गये, क्योकि संसार को दग्ध कर रहे विष को कोई भी सँभाल नहीं पा रहा था। समस्या के समाधान हेतु वे ब्रह्मा के पास गये। परन्तु वे बोले, "यह विष मेरे लिए असह्य है, अतः खेद है कि मैं कुछ नहीं कर सकता।" सबने प्रायः यही बात कही। अतः देवताओं ने कैलाश-निवासी शिव से कुछ सहायता पाने की आशा में उनके पास जाने का निश्चय किया।

शिवजी गहन ध्यान में डूबे थे, परन्तु उन्होंने देखा कि सभी संकट में हैं। अतः उन्हें दया आ गयी और वे बोले, "मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ।" देवताओं ने कहा, "संसार जल रहा है। कृपया आकर हमारी रक्षा कीजिए।"

तब शिवजी समुद्र तक गये और देखा कि लोग कैसे भयभीत हैं। वे बोले, "मैं इस विष को पी लूँगा। इसके फल-स्वरूप मैं भले ही मर जाऊँ, पर संसार तो बच जायेगा।" विष को उन्होंने अपने हाथ में लिया और चुपचाप पी गये। वह विष अत्यन्त तीव्र था और जाकर उनके गले में अटक गया। उसी दिन से महादेव शिव को 'नीलकण्ठ' का एक नया नाम मिला। इस पौराणिक कथा का गहन अर्थ है। इस कथा का नैतिक निहितार्थ एक श्लोक में कहा गया है – सज्जन लोग प्रायः ही दूसरों के दुःख से दुखी होते हैं –

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ।। ८/७/४४

संसार संकट में है। हम स्वाभाविक रूप से ही ऐसे दयालु लोगों की इच्छा करते है। दयावान होकर ही हम ईश्वर की सच्ची पूजा कर सकते हैं। हमें दूसरों के दुःख दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। यही सच्ची आध्यात्मिकता है। कोई पूछ सकता है कि परमेश्वर की पूजा क्यों की जाय? इसका उत्तर है – क्योंकि वे **अखिलात्मनः** – सबकी अन्तरात्मा है।

एक बार डल्लास (अमेरिका) के श्रोताओं के समक्ष मैंने उपरोक्त कथा की व्याख्या करते हुए बताया कि शिवजी कैलास में हैं। पर कैलास अब चीनी तिब्बती में है। अतः वास्तव में संकेत यह है कि शिव हमारे भीतर हैं। हमारा मस्तिष्क ही उनका स्थान है। यदि हम अपने चरित्र में शिव का स्वभाव अपना सकें, तो सारे सांसारिक विष को हजम कर सकते हैं। पति-पत्नी इस संसार में समुद्र-मन्थन के लिए, आनन्द-प्राप्ति के लिए एक साथ रहें, पर इस प्रक्रिया में कभी-कभी विष भी आकर मानव-सम्बन्धों को प्रभावित कर सकता है। विष आने पर पति उसे पत्नी की ओर ढकेलता है और पत्नी पति की ओर। एक दिन उनमे टूटन आ जाती है और दुख असह्य हो उठता है। पर यदि तुम अपने शिव स्वभाव से किंचित् विष हजम कर सको, तो समस्याएँ सुलझ जायेंगी। इस कथा का यही अर्थ है। वस्तुतः शिव कैलास में नहीं बैठे हैं। यह एक पौराणिक कथा है, पर वे मानव जीवन की सच्चाई है। तो श्रीमद्भागवत की यह एक विलक्षण कथा है। ❖ (क्रमशः) ❖

आत्म-निरीक्षण

स्वामी सत्यरूपानन्द

किसी प्रकार की प्रगति या उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि हम यह ठीक ठीक जान लें कि हम कहाँ खड़े हैं? हमारी स्थिति क्या है? हम कहाँ अवस्थित हैं?

इन तथ्यों के ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार की प्रगति या उन्नति सम्भव नहीं है। अपने सम्बन्ध में इन तथ्यों के ज्ञान के बिना हमारा जीवन मेलों में गोल घूमनेवाले उन झूलों के समान हो जाता है, जो दिन-पर-दिन घण्टों घूमता रहता है, किन्तु पहुँचता कहीं नहीं, वहीं का वहीं रह जाता है।

अपनी स्थिति तथा अवस्थिति को जानने का एकमात्र उपाय है – आत्मनिरीक्षण – अपने आपको देखना। बाहर से प्राप्त होनेवाला सारा ज्ञान-विज्ञान हमें बाहर की ओर से ही प्राप्त होता है। बाहर से प्राप्त होनेवाला यह ज्ञान हमें अपने से बाहर के संसार का ज्ञान तो देता है, किन्तु हमारे भीतर के संसार के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बता पाता। इसलिए बाहर के संसार के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानकर भी हम स्वयं अपने विषय में एकदम अनभिज्ञ, अज्ञानी रह जाते हैं। और यह सभी जानते हैं कि हमारे सभी दुःखों का कारण हमारा अपने विषय में अज्ञान ही है।

जीवन की उन्नति और प्रगति के लिए स्वयं के सम्बन्ध में इस अज्ञान को दूर करना आवश्यक है।

कैसे दूर होगा यह अज्ञान? आत्म-निरीक्षण से।

आत्म-निरीक्षण कहाँ से और कैसे शुरू करें? इसे आज, अभी और इसी क्षण से प्रारम्भ किया जा सकता है।

कैसे प्रारम्भ करें? अवकाश के क्षणों में से थोड़ा समय निकालिए। अपने कमरे में, घर के किसी कोने में या बाहर के किसी एकान्त स्थान में आराम से शान्त तथा शिथिल होकर बैठ जाइये। आँखें बन्द कर लीजिए तथा अपने मन में उठनेवाले विचारों को उसी प्रकार देखते रहिए, जैसे आप टी.वी. या सिनेमा देखते हैं। केवल द्रष्टा होकर थोड़ी देर अपनी कल्पना-शक्ति का प्रयोग कीजिए। उसकी सहायता लीजिए।

अच्छे-बुरे जो भी विचार आयें, उन्हें निष्पक्ष भाव से देखते रहिए। उन विचारों पर 'विचार' न कीजिए। केवल निरपेक्ष द्रष्टा होकर देखते रहिए। उन पर नियंत्रण करने का प्रयत्न न कीजिए।

आप पायेंगे कि पहले-पहल विचारों का तूफान आपके मन में उठ रहा है। ऐसे ऐसे विचार आयेंगे, जिनकी आपने कभी कल्पना भी न की होगी। आप आश्चर्य में पड़ जायेंगे कि आपके मन में ऐसे भी विचार थे।

घबराइये मत, अभ्यास निष्ठा के साथ चालू रखिए। अभ्यास चलता रहेगा, तो विचारों का तूफान धीरे धीरे कम होने लगेगा। मन तनावमुक्त होने लगेगा। आप हल्कापन महसूस करेंगे।

ऐसी अवस्था में आने पर आप आत्म-निरीक्षण के लिए उचित अधिकारी हो जाते हैं। अब आप अपने मन में उठने वाले विचारों को निष्पक्ष होकर देख सकेंगे। अपनी इच्छाओं को पहचान सकेंगे।

अब वह समय आ गया है कि आपको अपने विचारों पर 'विचार' करना है कि कौन-से विचार उचित तथा उपयोगी हैं और कौन-से अनुचित तथा व्यर्थ।

उसी प्रकार आपको अपनी इच्छाओं की भी जाँच करनी होगी। उन्हें भी परखना होगा। कौन-सी इच्छा सदिच्छा है, जो जीवन की उन्नति तथा विकास में सहायक है और कौन-सी इच्छा असत् है, जो जीवन के विकास में बाधक है।

इस तरह का विवेचन ही विवेक कहा जाता है। विवेक के द्वारा ही हम श्रेष्ठ विचार तथा सदिच्छाओं का चयन करने में समर्थ होते हैं। वही विचार श्रेष्ठ और वही इच्छा सत् होती है, जो नैतिक दृष्टि से शुद्ध व आध्यात्मिक दृष्टि से वरेण्य होती है।

अपने विचारों तथा इच्छाओं सम्बन्धी यह ज्ञान आत्म-निरीक्षण से भिन्न अन्य किसी उपाय द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। आत्म-निरीक्षण ही हमें अपने स्वभाव का ज्ञान देता है। अपने स्वभाव को जानकर ही हम जीवन में सफल हो सकते हैं। अपने स्वभाव को जानना, अपने गुण-दोषों को जानना है। आत्म-सुधार और आत्म-विकास के लिए अपने गुण-दोषों को जानना नितान्त आवश्यक है। इनको जानकर ही हम अपने स्वभाव से दोषों को दूर कर गुणों का अर्जन कर सकते हैं। अपनी कमियों और दुर्बलताओं को जानकर ही हम उनको दूर करने में समर्थ होकर उसकी क्षतिपूर्ति कर आत्म-सुधार के द्वारा अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकते हैं। और यह बात हम सभी जानते हैं कि व्यक्तित्व के समुचित विकास के बिना कोई भी व्यक्ति जीवन में सफल नहीं हो सकता। जीवन की सफलता का अर्थ ही है – अपने व्यक्तित्व का समुचित एवं सर्वांगीण विकास।

आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार सफल एवं शान्तिपूर्ण जीवन की कुंजी है। आत्म-निरीक्षण चरित्र-गठन का तंत्र है। अतः किसी भी अन्य तकनीकी ज्ञान के समान आत्म-निरीक्षण को भी धैर्य व परिश्रमपूर्वक सीखना पड़ता है। अध्यवसाय के साथ दीर्घकाल तक अभ्यास करना पड़ता है। किन्तु परिश्रम और अभ्यास के द्वारा एक बार सध जाने पर यह हमारे चरित्र का अंग बन जाता है व सदा सजग प्रहरी के समान सावधानी-पूर्वक दोषों और दुर्गुणों से हमारी रक्षा कर जीवन-लक्ष्य की ओर हमें अग्रसर करता रहता है। अतः जितने शीघ्र हो सके, हमें जीवन में आत्म-निरीक्षण का अभ्यास बना लेना चाहिए।

श्रीरामकृष्ण के भक्तिसूत्र

संकलक – स्वामी यतीशानन्द

(श्रीरामकृष्ण ने भक्तिमार्ग को ही कलिकाल का युगधर्म बताया था और सामान्य लोगों के लिए इहलोक में सुख-शान्ति तथा परलोक में सद्गति प्राप्त करने के लिए इसी को अपनाने की सलाह दी थी। नारद, शाण्डिल्य तथा अन्य अनेक आचार्यो ने भक्ति की परिभाषा, व्याख्या आदि की है। रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी यतीशानन्द जी ने श्रीरामकृष्ण-वचनामृत ग्रन्थ से भक्ति-विषयक उपदेशों को चुनकर एक विशिष्ट क्रम से सजाया है, जिससे हमें इस मार्ग की धारणा करने में बड़ी सहायता मिलती है। – सं.)

१. जीवन का उद्देश्य

१. ईश्वर-दर्शन ही जीवन का उद्देश्य है।

२. ईश्वर ही सत्य है और बाकी सब कुछ अनित्य है।

३. ईश्वर रसस्वरूप हैं और भक्त रसिक है।

४. ईश्वर कल्पतरु हैं, उनसे जो कोई जो कुछ चाहेगा, वही प्राप्त करेगा।

५. वे चैतन्य रूप में इस चराचर विश्व में व्याप्त हैं। वे ही चैतन्यस्वरूप हैं।

६. उन्हें कोई 'अल्लाह' कहता है, कोई 'गॉड', कोई 'ब्रह्म' कहता है, कोई 'काली'; कोई 'राम', 'हरि', 'ईसा', 'दुर्गा' आदि।

७. जो ईश्वर को प्राप्त कर लेता है, उनके दर्शन करता है, वही माया को पार कर सकता है।

८. सभी ईश्वर की शक्ति से ही शक्तिमान हैं।

९. वे बन्धन और मुक्ति दोनों के ही मालिक हैं। उनकी दया होने से ही मुक्ति हो जाती है।

१०. ईश्वर कर्ता और अन्य सभी उनके यंत्ररूप हैं।

११. उनका दर्शन होने पर सारे संशय दूर हो जाते हैं।

१२. उनकी दया होने पर क्या नहीं होता ! हजार वर्ष के अन्धकारपूर्ण कमरे में बत्ती लाने पर अन्धकार क्या थोड़ा-थोड़ा करके जाता है? एकाएक रोशनी हो जाती है !

१३. उनके विषय में विचार करके तुम उन्हें समझोगे? सबको वही करना चाहिए जिससे उनके पादपद्मों में भक्ति हो।

१४. जब तक तुम स्वयं सत्य हो, तब तक जगत् भी सत्य है। ईश्वर के नाम-रूप भी सत्य हैं। ईश्वर को एक व्यक्ति समझना भी सत्य है। अनन्त ईश्वर को भला कैसे जाना जा सकता है? और उनको जानने की आवश्यकता भी क्या है? यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर तुम्हें तो केवल उनके पादपद्मों में भक्ति को पाने की ही आवश्यकता है।

२. भक्तियोग ही युगधर्म है

१. कलियुग के लिए भक्तियोग सहज मार्ग है। भक्तियोग ही युगधर्म है।

२. कलिकाल के लिए भक्तियोग है, नारदीय भक्ति। ईश्वर का नाम-गुणगान और व्याकुल होकर प्रार्थना करना – 'हे ईश्वर, मुझे ज्ञान दो, भक्ति दो, मुझे दर्शन दो।'

३. ईश्वर में जैसे भी भक्ति हो, उसी की चेष्टा करो। भक्ति पाने के लिए ही तुमने मनुष्य के रूप में जन्म लिया है।

४. ज्ञानयोग भी सत्य है और भक्ति-पथ भी सत्य है। वे जब तक 'मैं' रख देते हैं, तब तक भक्ति-पथ ही सहज है।

५. प्रेम-भक्ति वस्तु, बाकी सब अवस्तु है।

६. कलि में कर्मयोग नहीं, भक्तियोग ही ठीक है।

७. भक्ति-पथ से ही उन्हें आसानी से पाया जा सकता है।

८. मैं कहता हूँ कि कामनाशून्य भक्ति ही अहेतुकी भक्ति है और इससे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है।

९. जो ठीक पथ नहीं जानते, परन्तु ईश्वर में भक्ति है, उन्हें जानने की इच्छा है, ऐसे लोग केवल भक्ति के जोर से ही ईश्वर की प्राप्ति करते हैं।

१०. शुद्धा भक्ति ही सार है, बाकी सब मिथ्या।

११. हजार लिखना-पढ़ना सीखो, पर ईश्वर में भक्ति के बिना, उनको प्राप्त करने की इच्छा के बिना – सब मिथ्या है।

१२. ईश्वर अवतीर्ण होकर भक्ति का उपदेश देते हैं, शरणागत होने को कहते हैं। भक्ति रहे तो उनकी कृपा से सब कुछ हो जाता है। ज्ञान-विज्ञान सबकी उपलब्धि हो जाती है।

१३. भक्ति के द्वारा ही उनका दर्शन होता है, परन्तु पक्की भक्ति, प्रेमाभक्ति, रागभक्ति चाहिये।

१४. भक्ति से प्राण-मन ईश्वर में लीन हो जाते हैं।

१५. विश्वास और भक्ति ! उन्हें भक्ति से सहज ही पाया जाता है। वे भाव के विषय हैं, ईश्वर को प्यार कर सकने से ही उन्हें प्राप्त किया जाता है।

१६. भक्ति का बीज यदि पड़ गया, तो वह बेकार नहीं जाता; उससे क्रमशः पेड़ और फूल-फल प्रकट होते हैं।

१७. प्रेमा भक्ति के रहने पर ही नित्य-अनित्य विवेक होता है, ईश्वर की अनुभूति होती है, ईश्वर-दर्शन होता है।

१८. जिसमें कोई कामना न रहे, ऐसी भक्ति – शुद्धा भक्ति के द्वारा उन्हें शीघ्र पाया जाता है।

१९. प्रह्लाद, नारद, हनुमान – इन लोगों ने भी समाधि के पश्चात् भक्ति रखी थी।

३. भक्तियोग क्या है?

१. मैं दास हूँ, तुम प्रभु हो; मैं भक्त हूँ, तुम भगवान हो – इसी अभिमान का अभ्यास करते-करते ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है। इसी का नाम भक्तियोग है।

२. भक्तियोग का अर्थ है – ईश्वर का नाम-गुण-कीर्तन आदि करते हुए मन को उन्हीं में रखना।

३. कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण होने पर भाव-भक्ति, प्रेम आदि सब होता है। इसी का नाम भक्तियोग है।

४. केवल पोथी पढ़ने से जागृति नहीं आती। उन्हें पुकारना चाहिए। व्याकुल होने पर ही कुण्डलिनी जागती है।

५. भक्ति का क्या अर्थ है? – शरीर-मन-वाणी से उनका भजन करना। शरीर से अर्थात् हाथों से उनकी पूजा-सेवा, पाँव से उनके स्थान पर जाना, कानों से उनकी लीला तथा नाम-गुण-कीर्तन सुनना, आँखों से उनकी मूर्ति के दर्शन करना। मन से अर्थात् सर्वदा उनका ध्यान-चिन्तन करना और वाणी से अर्थात् उनकी स्तुतियाँ पढ़ना – उनके भजन गाना।

६. जिनके पास समय नहीं, वे साँझ-सबेरे हाथों से ताली बजा-बजाकर एकाग्र चित्त के साथ 'हरिबोल' 'हरिबोल' कहते हुए उनका भजन करें।

७. पुराण मत या भक्तिशास्त्र कहता है कि ईश्वर ही चौबीस तत्त्व होकर विद्यमान हैं, उनकी अपने अन्दर-बाहर पूजा करो।

४. भक्तिलाभ के उपाय

१. यह भक्ति कैसे हो? पहले साधुओं का संग करना चाहिए। साधुसंग करने से ईश्वर-सम्बन्धी बातों में श्रद्धा होती है। श्रद्धा के बाद निष्ठा और निष्ठा के बाद भक्ति होती है।

२. इस भक्ति को प्राप्त करना हो, तो निर्जन चाहिये। निर्जन में ईश्वर-चिन्तन करने से भक्ति की प्राप्ति होती है।

३. पहले-पहल, पति के प्रति पत्नी की जैसी निष्ठा होती है, वैसी ही निष्ठा यदि ईश्वर में हो जाय, तभी भक्ति होती है।

४. उनके पादपद्मों में भक्ति होने के लिये साधना करनी चाहिये, व्याकुल होकर उन्हें पुकारना चाहिए। हजारों वस्तुओं से मन को खींचकर उनमें लगाना चाहिए।

५. ईश्वर का नाम-गुण-कीर्तन करने का अभ्यास कर लेने पर ही क्रमशः भक्ति होती है।

६. साकार का चिन्तन करने से शीघ्र भक्ति प्राप्त होती है।

७. उनसे आन्तरिक प्रार्थना करने पर उनमें मन भी लगता है और उनके श्रीचरणों में शुद्धा भक्ति भी होती है।

८. प्रार्थना करो। वे दयामय हैं। क्या वे भक्त की बात नहीं सुनेंगे? वे कल्पतरु हैं, उनके पास जाकर जो व्यक्ति जो कुछ माँगेगा, उसे वही मिलेगा।

९. जब ईश्वर से प्रार्थना करोगे, तब केवल उनके पादपद्मों में भक्ति के लिए ही प्रार्थना करना।

१०. माँ, (प्रभो!) मैं तुम्हारी शरण में हूँ, शरणागत हूँ! मैंने तुम्हारे पादपद्मों में शरण ली है। माँ, मैं देहसुख नहीं चाहता, मान-सम्मान नहीं चाहता, (अणिमादि) अष्ट सिद्धियाँ नहीं चाहता, केवल यही कहता हूँ कि तुम्हारे पादपद्मों में शुद्धा भक्ति हो – निष्काम, अमला, अहेतुकी भक्ति हो; और माँ, मैं तुम्हारी 'भुवनमोहिनी' माया में मुग्ध न होऊँ – तुम्हारी माया के संसार में कभी कामिनी-कांचन से लगाव न हो। तुम्हारे सिवा मेरा अन्य कोई नहीं है, माँ। मैं भजनहीन, साधनहीन, ज्ञानहीन और भक्तिहीन हूँ। कृपा करके मुझे अपने पादपद्मों में भक्ति दो।

५. भक्तियोग के विघ्न

१. सब स्वप्नवत् कहने से भक्ति की हानि होती है।

२. जो सिद्धियाँ चाहते हैं, ऐसे लोगों के लिए ईश्वर में शुद्धा भक्ति होना बड़ा कठिन है।

३. बुरे लोगों का संग अच्छा नहीं। उनसे कुछ दूर रहना चाहिये। अपने को बचाकर चलना चाहिये।

४. वृथा तर्क और विचार करने से वस्तु-लाभ नहीं होता।

६. भक्ति के प्रकार

प्रकृति के अनुसार भक्ति तीन प्रकार की होती है। भक्ति का सत्त्व, भक्ति का रज और भक्ति का तम। भक्ति का सत्त्व – इसे केवल ईश्वर ही जान सकते हैं। ऐसा भक्त भाव छिपाना पसन्द करता है। कभी वह मसहरी के भीतर बैठकर ध्यान करता है, किसी को पता भी नहीं लगता। सत्त्व का सत्त्व अर्थात् विशुद्ध सत्त्व हो जाने पर ईश्वर-दर्शन में देर नहीं है। भक्ति का रजोभाव जिनमें होता है, उन्हें इच्छा होती है, लोग देखें कि मैं भक्त हूँ। भक्ति का तमोभाव – ऐसा भक्तिभाव मानो डाका पड़ रहा हो। मन में खूब बल, ज्वलन्त विश्वास! जब एक बार मैं काली-नाम ले चुका, दुर्गा-नाम ले चुका, एक बार राम-नाम ले लिया, तो फिर मुझमें पाप कैसा!

२. इतना जप, इतना ध्यान करना होगा, इस प्रकार पूजा करनी होगी, ये सब वैधी भक्ति है। रागभक्ति, प्रेमाभक्ति – ईश्वर में अपनों से समान प्रीति आने पर फिर और कोई विधि-नियम नहीं रह जाता। ऐसी रागभक्ति, ऐसी प्रीति-अनुराग के बिना ईश्वर नहीं मिलते।

३. केवल ईश्वर को देखना चाहते हैं; और धन, मान, देह-सुख कुछ भी नहीं चाहते। इसका नाम है शुद्धा भक्ति।

४. ईश्वर पर खूब प्यार न हो तो प्रेमा भक्ति नहीं होती।

५. एक निष्ठा-भक्ति भी है। सबको प्रणाम करना, परन्तु हृदय का उमड़ता हुआ प्यार एक पर ही हो, यही निष्ठा है।

६. निष्ठा भक्ति का दूसरा नाम है अव्यभिचारिणी भक्ति।

७. अहेतुकी भक्ति – मुक्ति, मान, रुपया-पैसा, रोग ठीक होना, कुछ भी नही चाहता, बस तुम्हीं को चाहता हूँ। इसे अहेतुकी भक्ति कहते हैं। प्रह्लाद की अहेतुकी भक्ति है; ईश्वर के प्रति उनका शुद्ध निष्काम प्रेम है।

८. जब तक उनसे प्रेम नहीं होता, तब तक भक्ति कच्ची है। उनसे प्रेम होने पर वह भक्ति पक्की भक्ति कहलाती है। जिसकी कच्ची भक्ति है, वह ईश्वर की बातों और उपदेशों की धारणा नहीं कर सकता है। पक्की भक्ति होने पर ही धारणा हो सकती है।

९. उनकी कृपा होती है, तो वे ज्ञान भी देते हैं और रुपया-पैसा भी देते हैं। परन्तु इसे मलिन भक्ति कहते हैं। शुद्धा भक्ति वह है, जिसमें कोई कामना नहीं रहती।

१०. एकांगी प्रीति का अर्थ है केवल एक ओर से प्रेम। जैसे पानी बतख को खोजने नहीं जाता, बतख ही पानी से प्रेम करता है। इसके बाद है साधारणी, समंजसा और समर्था प्रीति। साधारणी प्रीति अपना ही सुख चाहती है, तुम सुखी होओ या न होओ, जैसा चन्द्रावली का भाव था। समंजसा में – मुझे भी सुख हो और तुम्हें भी सुख हो। यह बड़ी अच्छी चीज है, परन्तु 'समर्था' श्रेष्ठ अवस्था है, जैसा कि श्रीमती राधा का भाव था – वे कृष्ण-सुख में ही सुखी रहती थी – तुम सुख में रहो, मेरा जो भी हो।

११. एक और है ऊर्जिता भक्ति। मानो भक्ति उमड़ रही है। भाव में हँसता-रोता, नाचता-गाता है, जैसे चैतन्यदेव। राम ने लक्ष्मण से कहा, "भाई, जहाँ पर ऊर्जिता भक्ति देखोगे, वहाँ पर समझना कि मैं स्वयं ही विद्यमान हूँ।

७. भक्तों के लक्षण तथा आचरण

१. भक्त किसे कहते हैं? – वह जो उन्हीं में रहता है, जिसके मन-प्राण-अन्तरात्मा – सब उन्हीं में लीन हो गये हैं।

२. भक्ति ही सार है। ईश्वर तो सर्वभूतों में विद्यमान हैं, तो फिर भक्त किसे कहूँ? – जिसका मन सर्वदा ईश्वर में रहता है।

३. भक्त तीन प्रकार के हैं – अधम, मध्यम और उत्तम। अधम भक्त कहता है, 'ईश्वर वहाँ दूर हैं; सृष्टि अलग है, ईश्वर अलग हैं।' मध्यम भक्त कहता है, 'वे अन्तर्यामी हैं, वे हृदय में हैं।' वह हृदय में ईश्वर को देखता है। उत्तम भक्त देखता है, वे ही यह सब हुए हैं, वे ही चौबीसों तत्त्व हुए हैं। वह देखता है, ईश्वर ही नीचे-ऊपर सब ईश्वर से परिपूर्ण है।

४. अधम भक्त कहता है – ईश्वर बहुत दूर आकाश में हैं। मध्यम भक्त कहता है – ईश्वर सर्वभूतों में चेतना के रूप में, प्राण के रूप में विद्यमान हैं। उत्तम भक्त कहता है – ईश्वर स्वयं ही सब कुछ हुए हैं; जो कुछ भी देख रहा हूँ, वह उन्हीं का एक एक रूप है; वे ही माया, जीव-जगत् आदि सब बने हैं; उनके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है।

५. उत्तम भक्त कौन है? – जो ब्रह्मज्ञान के बाद देखता है कि ईश्वर ही जीव, जगत् और चौबीस तत्त्व हुए हैं।

६. जिन्होंने ईश्वर-दर्शन किया है और देखते हैं कि वे ही जीव-जगत् हुए हैं; सब कुछ वे ही हैं। वे ही उत्तम भक्त हैं।

७. एक और है – त्रिगुणातीत भक्त। उसका स्वभाव बालकों जैसा होता है। ईश्वर का नाम लेना ही उसकी पूजा है। वह बस उनका नाम ही जपता रहता है।

८. त्रिगुणातीत भक्ति होने पर सब कुछ चिन्मय देखता है। चिन्मय श्याम, चिन्मय धाम, भक्त भी चिन्मय – सब चिन्मय! ऐसी भक्ति कम लोगों को होती है।

९. भक्तगण भक्ति चाहते हैं – अहेतुकी भक्ति। वे धर्म-अर्थ-काम नहीं चाहते।

१० जिन्होंने उन्हें (ईश्वर को) पा लिया है, वे जानते हैं कि स्वाधीन इच्छा नाममात्र की है। वास्तव में वे ही यन्त्री हैं, मैं केवल यन्त्र हूँ; वे इंजीनियर हैं, मैं गाड़ी हूँ।

११. प्रेमी भक्त उन्हें लेकर कितनी ही तरह से सम्भोग करता है। कभी तो वह सोचता है – ईश्वर पद्म हैं और वह भौंरा, और कभी ईश्वर सच्चिदानन्द सागर हैं और वह मीन। फिर कभी सोचता है कि वह ईश्वर की नर्तकी है।

१२. जो भगवान का भक्त है, उसकी बुद्धि कूटस्थ होती है, जैसे लोहार के यहाँ की निहाई। निरन्तर हथौड़े की मार पड़ती रहती है, तो भी निर्विकार रहता है। यदि तुम हृदय से परमात्मा को चाहते हो, तो तुम्हें सब सहना होगा।

१३. भक्त दो तरह के होते हैं – एक वे जिनका भाव बिल्ली के बच्चे जैसा होता है – सारा अवलम्ब माता पर, वह चाहे जो करे। एक दर्जे के भक्त और हैं। उनका स्वभाव बन्दर के बच्चे की तरह है। बन्दर का बच्चा खुद किसी तरह माँ को पकड़े रहता है। दोनों ही भक्त हैं।

१४. सत्त्वगुण से भक्ति होती है, परन्तु भक्ति का सत्त्व, भक्ति का रज और भक्ति का तम भी है। भक्ति का सत्त्व विशुद्ध सत्त्व है, इसके होने पर ईश्वर को छोड़ और किसी में मन नहीं लगता; देह की रक्षा हो सके, केवल इतना ही शरीर की ओर ध्यान रहता है।

१५. एक उपाय से जाति-भेद उठ सकता है। वह उपाय है – भक्ति। भक्तों की जाति नहीं होती। भक्ति होने से ही देह, मन, आत्मा – सब शुद्ध हो जाते हैं। भक्ति न हो तो ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। और भक्ति होने पर चाण्डाल चाण्डाल नहीं है। अस्पृश्य जाति भी भक्ति होने पर शुद्ध-पवित्र हो जाती है।

१६. सच्चा भक्त कहता है, "हे ईश्वर! तुम्हीं कर्ता हो, तुम्हीं सब कुछ कर रहे हो, मैं तो बस यन्त्र मात्र हूँ। मुझसे जैसे कराते हो, मैं वैसा ही करता हूँ।

१७. यदि ईश्वर-प्राप्ति के बाद भी 'दास-मैं' या 'भक्त-मैं' रह जाय, तो वह व्यक्ति किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता।

१८. भक्त 'विद्या-माया' की शरण लेता है; साधुसंग, तीर्थ, ज्ञान, वैराग्य – इन्हीं सबका आश्रय लेकर रहता है।

१९. सच्चे भक्त के कुछ लक्षण हैं। गुरु के उपदेश सुनकर वह स्थिर हो जाता है। और दूसरा लक्षण – सच्चे भक्त की धारणा-शक्ति होती है। खाली काँच पर फोटो नहीं खींचा जा सकता, परन्तु रसायन-पुते शीशे पर फोटो आ जाता है। भक्ति ही वह रासायनिक द्रव्य है। एक लक्षण और है – सच्चा भक्त जितेन्द्रिय होता है, कामजयी होता है; गोपियों में काम का संचार नहीं होता था।

२०. भक्त चीनी होना नहीं, चीनी खाना चाहता है।

२१. भक्तगण मुक्ति नहीं चाहते।

२२. भक्त का भाव कैसा है, जानते हो? वह कहता है – 'हे भगवन्! तुम प्रभु हो, मैं तुम्हारा दास हूँ', 'तुम माता हो, मैं तुम्हारी सन्तान हूँ' और यह भी कि 'तुम्हीं मेरे माता या पिता हो'; 'तुम पूर्ण हो, मैं तुम्हारा अंश हूँ'। भक्त यह नहीं कहना चाहता कि मैं ब्रह्म हूँ।

८. भक्तिलाभ का फल

१. रागभक्ति होने पर अर्थात् ईश्वर से प्रेम होने पर ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। जिनमें रागभक्ति है, उनका भार ईश्वर लेते हैं।

२. भाव-भक्ति के द्वारा उनके अनुपम रूप के दर्शन मिलते हैं। माँ (ईश्वर) अनेक रूपों में दर्शन देती हैं।

३. यदि रागभक्ति – अनुराग के साथ भक्ति हो, तो फिर वे स्थिर नहीं रह सकते।

४. भक्ति के द्वारा ही सब कुछ मिलता है। उनको प्यार कर सकने पर किसी चीज का अभाव नहीं रह जाता।

५. जो लोग ब्रह्मज्ञान चाहते हैं, यदि वे भक्तिमार्ग पकड़े रहें, तो उन्हें ब्रह्मज्ञान भी हो जाता है।

६. सच्चे भक्त को कोई भय-चिन्ता नहीं। माँ (ईश्वर) सब कुछ जानती है।

७. ऊर्जिता भक्ति के होने पर भक्त हँसता-रोता, नाचता-गाता है; यदि किसी में ऐसी भक्ति हो, तो निश्चय समझना कि ईश्वर वहाँ विद्यमान हैं।

८. भक्त के लिए भगवान का भाव कोमल हो जाता है; वे अपना ऐश्वर्य छोड़ भक्तों के पास आ जाते हैं।

९. भक्ति के समक्ष वे साकार रूप से दर्शन देते हैं।

१०. भगवान का नाम लेने से मनुष्य का देह-मन – सब कुछ शुद्ध हो जाता है।

११. प्रेम अर्थात् ईश्वर पर ऐसा प्यार होगा कि संसार के अस्तित्व का होश तो रह ही नही जायेगा, साथ ही अपनी देह भी जो इतनी प्यारी वस्तु है, विस्मृत हो जायेगी।

१२. प्रेम है रस्सी के समान है। प्रेम होने पर ईश्वर भक्त से बँध जाते हैं, फिर भाग नहीं सकते।

१३. यदि ईश्वर के पादपद्मों में एक बार भक्ति हो, उनका नाम लेने में जी लगे, तो फिर प्रयत्न करके इन्द्रियों का संयम नहीं करना पड़ता। रिपु अपने आप ही वशीभूत हो जाते हैं।

१४. उनको प्यार करने पर विवेक-वैराग्य अपने आप ही आ जाते हैं।

१५. बाघ जैसे दूसरे जानवरों को गपागप खा डालता है, वैसे ही अनुराग रूपी बाघ काम-क्रोध आदि रिपुओं को खा जाता है। एक बार ईश्वर में अनुराग हो जाने पर फिर काम-क्रोध आदि नहीं रह जाते।

१६. उन पर जितनी ही शुद्धा भक्ति और प्रीति होगी, कर्म उतने ही घटते जायेंगे। उन्हें प्राप्त कर लेने पर कर्मों का त्याग हो जाता है।

१७. भक्ति-प्राप्त करके कर्म करने में कोई दोष नहीं है।

१८. भक्ति के 'मैं' में अहंकार नहीं होता। वह अज्ञान नहीं लाता, अपितु ईश्वर की प्राप्ति करा देता है।

१९. ईश्वर पर सच्ची भक्ति रहने से पाँव बेताल नहीं पड़ते – वह व्यक्ति किसी को झूठ-मूठ कष्ट नहीं देता।

२०. जिसकी ईश्वर में सच्ची भक्ति है, सभी उसके वश में आ जाते हैं।

२१. जिन्होंने विवाह कर लिया है, उनकी यदि ईश्वर में भक्ति हो, तो वे संसार में आसक्त नहीं होंगे।

२२. उनके शरणागत होने पर फिर भय नहीं रहता, वे ही रक्षा करेंगे।

२३. यह अनुराग, यह प्रेम, यह सच्ची भक्ति, यह प्यार, यदि एक बार भी हो, तो फिर साकार और निराकार – दोनों का साक्षात्कार हो जाता है।

२४. भक्त उनका चिन्तन करते-करते अहंशून्य हो जाता है। फिर देखता है, 'वे ही मैं हूँ, मैं ही वे हैं'; और तभी मुक्ति होती है।

९. भगवान भी भक्त के बिना नहीं रह सकते

१. जैसे भगवान के बिना भक्त नहीं रह सकता, वैसे ही भक्त के बिना भगवान भी नहीं रह सकते। तब भक्त रस होता है और भगवान रसिक हो जाते हैं; भक्त पद्म बनता है और भगवान भौंरा बनते हैं। वे अपने माधुर्य का आस्वादन करने के लिये दो बने हैं। तभी तो राधाकृष्ण-लीला हुई।

२. वे लीला कर रहे हैं, वे भक्त के अधीन हैं। कभी ईश्वर चुम्बक बनते हैं और भक्त सूई होता है। फिर कभी भक्त चुम्बक और वे (ईश्वर) सूई होते हैं। भक्त उन्हें खींच लेता है। वे भक्तवत्सल और भक्ताधीन हैं।

३. भक्त का हृदय उनका निवास है। वैसे तो वे समस्त प्राणियों में विद्यमान हैं, परन्तु भक्त के हृदय में वे विशेष रूप से विद्यमान हैं। भक्त का हृदय भगवान का बैठकखाना है।

४. फिर एक रूप से वे ही भक्त हुए हैं, इसलिये भक्त की पूजा से भगवान की पूजा होती है।

५. अवतार को देखना और ईश्वर को देखना एक ही है।

६. वे भक्तों की प्रीति के कारण छोटे होकर लीला करने के लिए आते हैं।

७. चिदात्मा और चित्शक्ति। चिदात्मा पुरुष एवं चित्शक्ति प्रकृति है। भक्तगण इसी चित्शक्ति के एक-एक स्वरूप हैं।

१०. भक्तों की साधना

१. मैं कहता हूँ, उपाय है क्यों नहीं? उनकी शरण में जाओ और व्याकुल होकर प्रार्थना करो, ताकि अनुकूल वायु चलने लगे, जिससे शुभ योग आ जाय। व्याकुल होकर पुकारने से वे अवश्य सुनेंगे। सारे सुयोग जुटा देंगे।

२. बालक के समान विश्वास हुए बिना ईश्वर को नहीं पाया जा सकता।

३. विश्वास हो जाने से ही हुआ। विश्वास से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है।

४. (उनकी प्राप्ति का) उपाय है – अनुराग अर्थात् उनसे प्रेम करना और प्रार्थना करना। पहले अनुराग, फिर प्रार्थना।

५. सर्वदा ही उनका नाम लेना चाहिए। कलियुग में नाम का माहात्म्य है। प्राण अन्नगत है, इसीलिए योग नहीं होता। उनका नाम लेकर ताली बजाने से पाप-पक्षी भाग जाते हैं।

६. सर्वदा ही (उनका) स्मरण-मनन करते रहना चाहिए।

७. उनके नाम पर विश्वास रखो। तो फिर तीर्थ आदि की आवश्यकता नहीं होगी। सच्चे विश्वास के द्वारा ही उन्हें प्राप्त किया जाता है।

८. मन शुद्ध हुए बिना यह विश्वास ही नहीं होता कि ईश्वर हैं!"

९. कामना के रहते हुए चाहे जितनी साधना करो, सिद्धि नहीं मिलती। परन्तु एक बात है, ईश्वर की कृपा होने पर क्षण भर में सिद्धि मिलती है; जैसे हजार वर्षों के अन्धेरे कमरे में यदि कोई अचानक ही दीपक ले जाय, तो वह क्षण भर में आलोकित हो जाता है।

१०. जो व्यक्ति हृदय से ईश्वर को जानना चाहेगा, उसका उद्देश्य अवश्य सफल होगा। जो व्याकुल है, ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं चाहता, वह उन्हें अवश्य पायेगा।

११. आन्तरिकता रहे तो गृहस्थी में भी ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

१२. सत्य बोलना कलियुग की तपस्या है, इस युग में अन्य साधनाओं का अभ्यास कठिन है, परन्तु सत्य पर दृढ़ता रहने से मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

१३. राधाकृष्ण को मानो या न मानो, पर उनके आकर्षण को तो ग्रहण करो! ईश्वर के लिए इस प्रकार की व्याकुलता पाने के लिए प्रयत्न करो। व्याकुलता रहने से उन्हें प्राप्त किया जा सकता है।

१४. कुछ दिन निर्जन में रहकर भक्ति प्राप्त कर लो और उसके बाद चाहे जहाँ भी रहो। पैर में जूता पहनकर काँटेदार जंगल में भी आसानी से जाया जा सकता है।

१५. बात यह है कि किसी प्रकार उन पर भक्ति होनी चाहिए, प्यार होना चाहिए। अनेक खबरों से क्या काम? एक रास्ते से चलते चलते यदि उन पर प्यार हो जाय, तो काम बन गया। प्यार होने से ही आदमी उन्हें पाता है।

१६. और अधिक क्या कहूँ, उसी ओर मन रखो, ईश्वर को मत भूलो। सरल भाव से उन्हें पुकारने पर वे दर्शन देंगे।

१७. ईश्वर के नाम से मनुष्य पवित्र हो जाता है। इसीलिए नाम-संकीर्तन का अभ्यास करना चाहिए।

१८. हृदय से व्याकुल होकर उनका नाम-गुण-गान करो, प्रार्थना करो, भगवान मिलेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

१९. जब तक 'तू ही, तू ही' न करोगे तब तक छुटकारा नहीं होगा। आवागमन, पुनर्जन्म होगा ही – मुक्ति न होगी।

२०. यदि गुरु की कृपा से एक बार अहंबुद्धि दूर हो जाय, तो फिर ईश्वर के दर्शन होते हैं।

२१. गुरु के उपदेश पर विश्वास करना चाहिए। गुरु ही

सच्चिदानन्द, सच्चिदानन्द ही गुरु हैं; उनकी बात पर बालक की भाँति विश्वास करने से ईश्वरप्राप्ति होती है।

२२. गुरु की बातों पर विश्वास करने पर, उनके आदेश के अनुसार चलने पर ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। जैसे डोर को पकड़कर चलने से छोर तक पहुँचा जा सकता है।

२३. यदि तुम ईश्वर को खोज रहे हो, तो मनुष्य में खोजो। मनुष्य में उनकी अभिव्यक्ति अधिक होती है।

२४. जब संसार-बुद्धि बिल्कुल चली जाएगी और सोलह आने मन उन्हीं पर लग जाएगा, तभी वे मिलेंगे।

२५. "विषयी का विषय पर, माता का पुत्र पर और सती का पति पर – ये तीनों प्रकार के आकर्षण यदि किसी में एक साथ हों, तो उस आकर्षण के बल पर वह ईश्वरप्राप्ति कर सकता है। बात यह है कि ईश्वर से प्रेम करना होगा। माँ जैसे पुत्र से प्रेम करती है, सती जैसे पति से प्रेम करती है और विषयी जैसे विषय से प्रेम करता है – इन तीन लोगों का प्रेम, ये तीन प्रकार के आकर्षण एकत्र करने पर जितना होता है, उतना ईश्वर में लगाने से उनका दर्शन प्राप्त होता है।

२६. एक उपाय और है – व्याकुल होकर प्रार्थना करना। ईश्वर अपने जन हैं, उनसे कहना होगा, 'तुम कैसे हो, दर्शन दो – दर्शन देना ही होगा – तुमने मुझे पैदा क्यों किया?'

२७. लज्जा छोड़ो, ईश्वर का नाम लोगे, इसमें भला लज्जा की क्या बात? लज्जा, घृणा और भय – इन तीनों के रहते ईश्वर नहीं मिलते। यह भाव छोड़ो कि 'मैं इतना बड़ा आदमी और ईश्वर का नाम लेकर नाचूँगा !

२८. उन्हें प्राप्त करना हो, तो शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर में से किसी एक भाव का सहारा लेना पड़ता है।

२९. ईश्वर-चिन्तन करते हुये देहत्याग करने से ईश्वर-प्राप्ति होती है। फिर इस संसार में आना नहीं पड़ता। उपाय है – अभ्यास-योग। ईश्वर-चिन्तन का अभ्यास करने पर अन्तिम दिन भी उनकी याद आयेगी।

३०. क्या करोगे? उनके चरणों में सब समर्पित कर दो, उन्हें आम-मुखत्यारी दे दो! वे जो कुछ अच्छा समझें, करें।

३१. विश्वास करो, उन पर निर्भरता लाओ, तो तुम्हें स्वयं कुछ भी न करना होगा। माँ ही सब कुछ कर लेंगी।

३२. व्याकुल होकर उनके लिए रो सकते हो? लड़के के लिए, स्त्री के लिए, धन के लिए लोग घड़ों आँसू बहाते हैं, परन्तु ईश्वर के लिए भला कौन रोता है?

३३. कहते हैं कि कलियुग में एक दिन एक रात भर रोने से ईश्वर का दर्शन होता है। ❖ ❖ ❖

श्रीरामकृष्ण की बोधकथा

राजा और पण्डित

एक बार एक पण्डित ने राजा के पास जाकर कहा, "महाराज, मैं आपको भागवत सुनाना चाहता हूँ, आप सुनिए।" राजा ने कहा, "महाराज! भागवत को आपने अभी भी नहीं समझा। आप उसे अच्छी तरह पढ़ने के बाद आएँ।" पण्डित चिढ़कर चला गया। उसने मन में सोचा, "राजा कैसा निर्बुद्धि है! मैंने इतने वर्ष भागवत का पाठ किया और राजा कहता है फिर से पाठ करके आइये।" पर उसमें राजा की बात के ऊपर कुछ उत्तर देने की सामर्थ्य न थी। पण्डित ने घर आकर भागवत-पाठ आरम्भ किया। पढ़ते हुए वह हँसता और सोचता, 'राजा कैसा मूर्ख है; भला अब मेरे लिए इसमें समझने का क्या बाकी रहा?' कुछ दिनों में भागवत पाठ पूरा कर वह फिर राजा के पास गया और बोला, "महाराज, अब मुझसे भागवत सुनिए।" राजा ने पुन: कहा, "पण्डितजी, आप स्वयं अच्छी तरह पाठ कर आइए, उसके बाद मैं सुनूँगा।" पण्डित राजा के सामने कुछ बोल नहीं सका। पर मन-ही-मन बहुत नाराज होकर लौट आया। पर वह सोचने लगा, "राजा ने मुझसे बार बार यह बात क्यों कही; जरूर इसमें कुछ अर्थ है।" उसने पुन: पोथी खोली और पठन आरम्भ किया। पर इस बार वह जितना पाठ करने लगा उसके भीतर उतने ही नए नए भाव उदित होने लगे। वह भावविभोर होकर अपने कमरे में अकेला बैठकर भागवत पाठ करता और भक्तिभाव से व्याकुल हो रोने लगता। उसने राजभवन में जाना छोड़ दिया। बहुत दिनों बाद राजा ने सोचा, "पण्डित अब आता क्यों नहीं?" राजा ने स्वयं उसके यहाँ जाकर देखा, पण्डित भावमग्न हो भागवत का पाठ कर रहा है और उसके नेत्रों से अविरत प्रेमाश्रु की धार बह चली है। देखकर राजा ने कहा "महाराज! अब आपका भागवत-पाठ ठीक ठीक हो रहा है। अब मैं आपसे भागवत सुनूँगा।"

स्वामी विवेकानन्द का हास-परिहास

श्री एच. एन. शर्मा, राजनांदगांव

स्वामी विवेकानन्द की बुद्धि आचार्य शंकर और हृदय भगवान बुद्ध जैसा था। वे एक महान् आध्यात्मिक शक्ति तथा मुक्त पुरुष थे। उनका जन्म अन्य लोगों के हितार्थ हुआ था। हृदय और मस्तिष्क में समन्वय रूपायित करना स्वामीजी के सन्देश की मूल बात है। गम्भीर विषयों के महान् चिन्तक होने के बावजूद स्वामीजी हास-परिहासमय भी थे। वे सदा वेदान्त आदि गम्भीर विषयों पर ही चर्चा नहीं करते थे, बल्कि बीच बीच में अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यों के बीच विमल हास-परिहास की ऐसी तरंगें छोड़ते थे कि सुननेवाले हँस-हँसकर लोटपोट हो जाते। अपने इस स्वभाव के सम्बन्ध में स्वामीजी कहते हैं – "धार्मिक लोगों के सम्बन्ध में पाश्चात्य लोगों की धारणा है कि जो व्यक्ति जितना ही धर्मपरायण होगा, उसका बाहरी चाल-ढाल उतना ही गम्भीर होगा और उसके मुख से दूसरी कोई बात ही नहीं निकलेगी। पर मेरे मुख से धर्म-व्याख्या सुनकर एक ओर उस देश के धर्म-प्रचारक जैसे विस्मित थे, वैसे ही व्याख्यान के अन्त में मुझे अपने मित्रों के साथ व्यंग्य-विनोद देखकर भी वे कम चकित नहीं होते थे। कभी-कभी वे मेरे मुख पर ही बोल उठते – 'आपमें ऐसी चपलता शोभा नहीं देती।' उत्तर में मैं कहता – 'हम आनन्द की सन्तान हैं, हम दुखी और उदास क्यों बने रहें?' "

आइये, स्वामी विवेकानन्द जी के व्यंग-विनोद और हास-परिहास का हम भी थोड़ा आनन्द उठाएँ –

नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) श्रीरामकृष्ण के अन्यतम शिष्य थे। श्रीरामकृष्ण देव नरेन्द्र की बातों पर बहुत विश्वास करते थे। एक दिन की बात है। श्रीरामकृष्ण भक्त के स्वभाव को चातक का दृष्टान्त देकर समझा रहे थे – "चातक जिस प्रकार अपनी प्यास बुझाने के लिये बादल की ओर ही ताकता रहता है और उसी पर पूर्णतया निर्भर रहता है, उसी प्रकार भक्त भी अपने हृदय की प्यास और सब प्रकार के अभावों की पूर्ति के लिये केवल ईश्वर पर ही निर्भर रहते है" इत्यादि। नरेन्द्रनाथ भी उस समय वही बैठे थे। वे सहसा बोल उठे – "महाराज, यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि चातक पक्षी वर्षा का जल छोड़कर अन्य कोई जल नहीं पीता, परन्तु फिर भी यह बात सत्य नहीं है। अन्य पक्षियों की भाँति नदी आदि जलाशयों से भी वह जल पीकर अपनी प्यास बुझाता है। मैंने चातक को इस तरह जल पीते हुए देखा है।" श्रीरामकृष्ण देव ने कहा – "चातक अन्य पक्षियों की तरह नदी आदि जलाशयों में भी जल पीता है? तब तो मेरी इतने दिनो की धारणा मिथ्या हो गयी। जब तुमने देखा है, तब फिर उस विषय में मैं जरा भी सन्देह नहीं कर सकता।" बालसुलभ स्वभाववाले श्रीरामकृष्ण देव इतना कहकर ही निश्चिन्त नहीं हुए; वे सोचने लगे – "यह धारणा जब भ्रान्त प्रमाणित हुई, तो दूसरी धारणाएँ भी वैसी ही हो सकती हैं।" यह विचार मन में आने पर वे बड़े उदास हो गये। कुछ दिन बाद नरेन्द्र ने एक दिन सहसा उन्हें पुकारकर कहा – "वह देखिए महाराज, चातक गंगाजी का जल पी रहा है।" श्रीरामकृष्ण देव घबराकर देखने आये और बोले, "कहाँ रे?" नरेन्द्र के दिखाने पर उन्होंने देखा – एक छोटा-सा चमगादड़ पानी पी रहा है। तब हँसते हुए उन्होंने कहा – "यह तो चमगादड़ है रे। तो मूर्ख, तू चमगादड़ को चातक समझता है और मुझे इतने सोच में डाल दिया था। अब मै तेरी किसी बात पर विश्वास नहीं करूँगा।"

* * *

स्वामी विवेकानन्द संन्यासी थे। युवावस्था से ही इन्द्रियों के आकर्षण और यौन-सुलभ कामनायें उन्हें अपवित्र, स्थूल और दैहिक प्रतीत होती थीं। सन् १८८५ में वे न्यूयार्क के पास सहस्त्रद्वीपोद्यान में अपने पाश्चात्य शिष्यों के साथ शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में निमग्न थे। एक दिन की बात है। संध्या का समय था, वर्षा हो रही थी। स्वामीजी अपने पाश्चात्य शिष्यों को पतिव्रत धर्म का आदर्श समझाते हुए, सीताजी की कथा सुना रहे थे। कथा कहने में स्वामीजी की कोई सानी न थी। कथा कहते कहते चरित्र आँखों के सामने सजीव हो उठता। इसी बीच फंकी नामक एक शिष्या के मन में यह विचार आया कि पाश्चात्य समाज के वे प्रतिष्ठित सुन्दरियाँ, जो पुरुषों को लुभाने की कला में निपुण हैं, स्वामीजी की दृष्टि में कैसी प्रतीत होती होंगी। भलीभाँति विचार करके देखने के पूर्व ही सहसा उसके मुँह से यह प्रश्न निकल पड़ा और वे उलझन में पड़ गयीं। परन्तु स्वामीजी ने अपनी बड़ी तथा गम्भीर आँखों से शान्त-भाव के साथ उसकी ओर देखा और धीरतापूर्वक कहने लगे। यदि विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी भी निर्लज्जतापूर्वक तथा अनारी सुलभ-भाव से मेरी ओर देखे, तो वह तत्काल मेरी दृष्टि में एक हरी मेढकी के रूप में बदल जायेगी और जैसा कि तुम जानती हो कि मेढकी के सौन्दर्य का कोई भी प्रशंसक नहीं होता।

* * *

शिकागो धर्म महासभा की समाप्ति के बाद स्वामीजी ने अमेरिका के लोगों के आग्रह पर वहाँ विभिन्न प्रान्तों व नगरों में भ्रमण करते हुए अनेक व्याख्यान दिये थे। वक्ता के रूप में वे

अनुपम थे। वे बिना किसी नोट्स के धाराप्रवाह भाषण देते। वे वक्ता ही नहीं उच्चतम श्रेणी के आचार्य भी थे। प्रत्येक व्याख्यान के अन्त में वे श्रोताओं को प्रश्न पूछने को उत्साहित करते और जिज्ञासुओं के प्रश्नों के समाधान के लिये कोई कसर उठा न रखते। एक बार वे कैलीफोर्निया के श्रोताओं के समक्ष व्याख्यान के पश्चात् जिज्ञासुओं के प्रश्नों का जवाब दे रहे थे। वहाँ कुछ लोगों द्वारा बारम्बार प्रश्न किये जाने पर एक व्यक्ति के मन में आया कि ये लोग अपने प्रश्नों के द्वारा स्वामीजी को व्यर्थ ही तंग किये जा रहे हैं और उन्होंने यह बात कह भी दी। परन्तु स्वामीजी सहज भाव से बोले, "जितने भी चाहो प्रश्न कर लो। प्रश्न जितने अधिक हों उतना ही अच्छा। मैं तो इसी के लिये यहाँ उपस्थित हूँ और जब तक आप समझ नहीं पाते, मैं छोड़नेवाला नहीं हूँ।" इस पर देर तक तालियाँ बजती रहीं।

* * *

एक बार स्वामीजी ने कहा था – "मैं एक ऐसे व्यक्ति का शिष्य हूँ, जो अपना नाम तक नहीं लिख पाते थे, तथापि मैं उनके जूते तक खोलने के योग्य नहीं हूँ। कितनी ही बार मेरे मन में आया है कि काश, मैं अपनी बुद्धि को गंगाजी में विसर्जित कर पाता।" एक महिला ने कहा – "परन्तु स्वामीजी आपके गुणों में आपकी बुद्धिमता ही तो हमें सर्वाधिक पसन्द है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया – "महाशया, इसका कारण यह है कि आप भी मेरे ही समान मूर्ख हैं।"

* * *

एक दिन स्वामीजी ने अपने सरल प्रकृति गुरुभाई स्वामी अद्वैतानन्द जी से कहा – "दादा, इस बार गुडफ्राइडे सोमवार को पड़ा है।" स्वामीजी की बात पर अद्वैतानन्द जी को विश्वास हो गया। उन्होंने कहा – "वाह! आश्चर्य की बात है यह तो!" और इसके साथ ही वहाँ उपस्थित सभी लोग जोरों से हँस पड़े।

* * *

घटना बेलूड़ मठ की है। एक रात स्वामीजी के शिष्य शरत् चन्द्र चक्रवर्ती स्वामीजी के ही कमरे में सो रहे थे। भोर में चार बजे स्वामीजी ने शिष्य से कहा – "जा, घंटा बजाकर सब साधु-ब्रह्मचारियों को जगा दे।" शिष्य के ऐसा करने पर साधुगण शीघ्रतापूर्वक अपना प्रातःकृत्य समाप्त कर मन्दिर में जप-ध्यान करने को चले गये। स्वामीजी के निर्देशानुसार घण्टे को स्वामी ब्रह्मानन्द जी के कानों के पास बड़े जोर से बजाया गया था, इस पर वे बोले – "इस बांगाल की शरारत के कारण तो मठ में रहना कठिन हो गया है।" शिष्य के मुँह से यह बात सुनकर स्वामीजी खूब हँसे।

* * *

एक बार अमेरिका में एक व्याख्यान के दौरान स्वामीजी ने गृहस्थ-जीवन की संन्यासी-जीवन से तुलना करते हुए कहा – "किसी ने मुझसे पूछा कि मैंने विवाह किया है या नहीं।" इतना कहकर वे ठहर गये और मुस्कुराते हुए उन्होंने श्रोताओं की ओर देखा और इसके साथ ही अनेक लोगों की दबी हुई हँसी की आवाजें सुनायी दीं। पर इसके बाद ही उनके चेहरे पर मुस्कुराहट की जगह भीति का भाव प्रकट हुआ और उन्होंने कहना जारी रखा – "क्यों? मैं किसी भी कीमत पर विवाह करने को राजी नहीं हूँ। यह तो शैतान की चालबाजी है।" मानो अपनी बातों पर जोर देने के लिये ही वे यहाँ पर ठहर गये। फिर इसी बीच जो प्रशंसा की गूँज शुरू हो गयी थी, उसे रोकने के लिये हाथ उठाकर अपने चेहरे पर गम्भीरता का भाव लाते हुये उन्होंने अपना वक्तव्य जारी रखा – "तो भी संन्यास-प्रथा के विरुद्ध मुझे एक आपत्ति है और वह यह है कि... (थोड़ा रुककर) यह सर्वोत्तम लोगों से समाज को वंचित कर देता है।" इसके बाद श्रोताओं की तालियाँ तथा प्रशंसा की जो ध्वनि उठी उसे उन्होंने रोकने का प्रयास नहीं किया।

* * *

घटना ९ दिसम्बर १९०० की है। अपनी द्वितीय विदेश-यात्रा के बाद स्वामीजी अचानक ही बिना किसी पूर्व सूचना के बेलूड़ मठ आ पहुँचे। संध्या का समय था। मठ के साधु-ब्रह्मचारी अभी भोजन के लिये बैठे ही थे कि माली साँस रोके दौड़ता हुआ आया और हाँफते हुये बोला कि एक साहब आये हैं। उसे जल्दी से मुख्य द्वार का चाभी देकर भेज दिया गया और वहाँ इस बात को लेकर तरह तरह की अटकलें लगायी जाने लगीं कि इतनी रात गये कौन साहब, कहाँ से और किसलिए आया होगा। सहसा विस्मय के साथ देखा गया कि साहब स्वयं ही तेज कदमों से उन लोगों की ओर चले आ रहे हैं। थोड़ा निकट आते ही सबको पहचानते देर न लगी कि ये तो अपने स्वामीजी ही हैं। "स्वामीजी आये हैं, स्वामीजी आये हैं" – इन शब्दों के साथ एक कोलाहल-सा मच गया। पहले तो उन लोगों ने सोचा था कि कहीं दृष्टि-भ्रम तो नहीं हो रहा है। फिर जब निश्चित रूप से पहचान लिया कि स्वामीजी ही हैं, तब भी वे समझ नहीं सके कि वे भीतर कैसे आये, क्योंकि फाटक पर तो ताला लगा हुआ था। स्वामीजी ने स्वयं ही बताते हुये कहा – "तुम लोगों के खाने का घण्टा सुनकर मैंने सोचा कि यदि तुरन्त नहीं पहुँचा, तो सब समाप्त हो जायेगा। इसलिए मैंने विलम्ब नहीं किया। अर्थात् उन्होंने माली के हाथों खबर मिलने की प्रतीक्षा किये बिना ही दीवार फाँदकर भीतर प्रवेश किया था।

* * *